इकाई 10 अंधायुग : मिथकीय आख्यान का पुनःसृजन

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 अंधायुग : मिथकीय आख्यान
10.3 'अंधायुग' की कथ्य चेतना
10.4 पौराणिक आख्यान का आधुनिक संदर्भ
10.5 'अंधायुग' का राजनीतिक संदर्भ
10.6 अंधायुग : बदलते मूल्यों का संकट
10.7 'अंधायुग' पर अस्तित्ववादी जीवन दर्शन का प्रभाव
10.8 सारांश

10.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के इस दूसरे खंड की 'अंधायुग' से संबंधित इकाई का अध्ययन करने जा रहे हैं। 'अंधायुग' से संबंधित इस इकाई में मिथकीय आख्यान के पुनःसृजन के बारे में पढ़ेंगे।

'अंधायुग' पढ़ने से आपको यह जानकारी तो हो गई होगी कि इसकी कथा का आधार महाभारत है। महाभारत प्राचीन महाकाव्य है जिसमें कौरवों और पांडवों के बीच संघर्ष की कथा कही गई है। महाभारत का युद्ध इन्हीं दो पक्षों के बीच लड़ा गया था। यह युद्ध अठारह दिन तक चला था और इस कृति की कथा का संबंध अठारहवें दिन की घटनाओं से है।

'अंधायुग' में महाभारत के चरित्रों और घटनाओं को आधुनिक संदर्भ में पुनःसृजित किया गया है। कोई रचनाकार जब मिथकीय आख्यान को आधुनिक संदर्भ में प्रस्तुत करता है, तो कथा भले ही प्राचीन हो, उसकी प्रेरणा और परिप्रेक्ष्य आधुनिक ही होता है। इस कृति में इस प्रेरणा और परिप्रेक्ष्य को समझाने की चेष्टा की जाएगी।

आधुनिक संदर्भ पर विचार करते हुए पाठक को यह स्पष्ट होने लगता है कि इस कृति में समकालीन राजनीतिक संदर्भ भी है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के राजनीतिक घटनाक्रमों को इस गीति-नाट्य में मिथकीय कौरव-पांडवों के संघर्ष में परिणत कर देखा गया है। इसकी वजह यह है कि जैसा मूल्यों का संकट नाटकाकर को आज दिखाई दे रहा है, वैसे ही संकट की कल्पना वह महाभारत की स्थितियों में भी देखता है। यही कारण है कि 'अंधायुग' पर विचार करते हुए बदलते हुए मानव मूल्यों के प्रश्न का विवेचन भी किया जाएगा।

नयी कविता से जुड़े कवियों पर अस्तित्ववादी जीवन दर्शन का गहरा प्रभाव था। धर्मवीर भारती की रचनाओं पर भी इस प्रभाव को देखा जा सकता है। 'अंधायुग' पर अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन के प्रभाव पर भी इकाई में विचार किया जाएगा।

10.1 प्रस्तावना

धर्मवीर भारती के काव्य नाटक 'अंधायुग' से संबंधित यह पहली इकाई है। इस खंड की पहली तीन इकाइयों में आपने मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' का अध्ययन किया था। 'आधे-

अधूरे' का संबंध समकालीन मध्यवर्गीय यथार्थ से है जब कि यह नाटक प्रसिद्ध महाकाव्य 'महाभारत' की कथा से संबंधित है।

'महाभारत' और 'रामायण' की कथा भारतीय मानसिकता में गहरे तक पैठी है। ऐसे में सुपरिचित बातों को कोई धर्मवीर भारती जैसा सजग और जाग्रत साहित्यकार अगर हमें फिर से सुनाने-दिखाने बैठता है तो निश्चय ही उसके इस प्रयास के पीछे कोई गंभीर कारण होना चाहिए और कम-से-कम इतनी बात तो हमें पहले से मान लेनी चाहिए कि भारती जो भी कहना चाह रहें हों कम-से-कम 'महाभारत' के अठारहवें दिन के युद्ध और परिणाम की बात वे नहीं करने जा रहे। बेशक वे इस दिन, इस घटना, इस परिवेश के बहाने कुछ और भी ऐसी बातें हमारे सामने लाना चाहते हैं जिसे पहले लोगों ने नज़रअंदाज़ कर दिया हो या, जो पहले किसी को नहीं सूझी हो, या अगर पहले से भी विदित रही हो तो उसकी और भी कोई नयी व्याख्या हो सकती है। इस पाठ के अंतर्गत यथासंभव संक्षेप में हम उन्हीं बातों का जायज़ा लेने की कोशिश करेंगे और नाटक के कथ्यों को तलाश करने का प्रयास करेंगे।

10.2 'अंधायुग' : मिथकीय आख्यान

इस पाठ का प्रस्थान बिंदु है, अंधायुग : मिथकीय आख्यान का पुनःसृजन अर्थात् धर्मवीर भारती ने अपने इस नाटक में मिथक के प्रयोग के माध्यम से अपनी कोई बात कहनी चाही है और इस कोशिश में उन्होंने 'महाभारत' के अठारहवें दिन की घटना और उस समय के परिवेश को अपनी रीति से फिर से रचा, अपनी दृष्टि से कुछ खास बिंदुओं की ओर संकेत करने के लिए। आगे हम लोग 'अंधायुग' की कथ्य चेतना और कथ्य चेतना से जुड़े कतिपय महत्व के प्रश्नों पर विचार-विमर्श करेंगे परंतु यहाँ शुरू में ही आपके सामने जो नया शब्द 'मिथक' आया है, पहले हम उस शब्द के अर्थ प्रयोग और परिप्रेक्ष्य को समझ लें ताकि 'अंधायुग' में मिथक की व्याख्या कर सकें।

'मिथक' यूनानी शब्द 'मिथ' का हिंदीकरण है जो आज प्रायः दंतकथा, पुराख्यान, धार्मिक कथा के पर्याय के रूप में प्रयोग किया जाता है। आदिम मनुष्य की भाषा, प्रकृति के प्रति आदिम प्रतिक्रिया, आदिम यथार्थ के प्रति सामूहिक मन को अचेतन बिंबात्मक अनुभूति तथा अलौकिक गाथाओं का अर्थ देने के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। पश्चिम के अनेक विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से इसकी व्याख्या की है (देखिए 'हिंदी आलोचना के बीज शब्द' : बच्चन सिंह)। मिथक और निजंधरी कथाओं में पर्याप्त समानताएँ देखी गयी हैं परंतु कुछ मौलिक अंतर भी हैं। मिथक परिवर्तनशील नहीं होता, और अतर्क्य रीति से ज्यों का त्यों स्वीकृत किया जाता है। अपरिवर्तनशील होने पर भी मिथकों में प्रजातीय प्रत्यय और अवधारणाएँ होती हैं जैसे भारतीय मिथक पर थोड़ा धार्मिक रंग चढ़ा हुआ है। अज्ञेय की राय में मिथक किसी भी जाति की सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा का महत्वपूर्ण अस्त्र है।

'मिथक' देश कालातीत होते हैं और किसी विशेष देशकाल में केवल ऐसे ही मिथक स्वीकृत होते हैं जो जनमानस में रचे बसे हों और जिनकी प्रासंगिकता लोकायत में जानी और स्वीकारी जा सकती हो, अन्यथा प्रयुक्त मिथक अर्थ की जगह अनर्थ की जड़ बन जा सकते हैं। इसलिए साहित्यकार के लिए ज़रूरी होता है कि किसी मिथक को छूने से पहले उसकी प्रासंगिकता पर विचार कर ले। मिथकों की प्रासंगिकता युग के यथार्थ का बोध कराने वाली होनी चाहिए। साहित्य में मिथकों का प्रयोग मुख्यतः दो रूपों में संभव होता है : व्यक्तिनिष्ठ उद्देश्य से तथा समष्टिगत उद्देश्य से। जैसे, यदि सत् और असत् के संघर्ष, अंधकार और प्रकाश के संघर्ष, पाप और धर्म के संघर्ष का चित्रण जो समाज के सांस्कृतिक परिवर्तन के महत्तर उद्देश्य से किया गया हो, लोकायत को ध्यान में रखकर मिथकीय आधार पर रचा गया हो ऐसा कलात्मक आलेख ही वास्तविक मिथक साहित्य है और मिथक एवं यथार्थ की संगति भी।

'अंधायुग' को मिथकीय संगति की प्रासंगिकता

महाभारत के अंतिम दिन के युद्ध की संध्या से कृष्ण की मृत्यु के क्षणों के बीच की पृष्ठभूमि में तैयार किए गए इस नाटक में वास्तव में पौराणिक कथा (अथवा कहें कि मिथक) उतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी कि नया युगबोध। कवि के युद्धोत्तर संस्कृति के विसंस्कृतिकरण, निराशा और पराजय से उपजी मानसिकता, रक्तपात, विध्वंस, कुरूपता, हिंसा, नृंशसता, ह्रासोन्मुख मनोवृत्ति आदि गिरते और ध्वस्त होते मानव मूल्यों को हमेशा अपनी दृष्टि में रखा है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन किसी भी जाति और संस्कृति के लिए बहुत बड़ा खतरा होता है और वहीं ऐसे मिथक की ज़रूरत होती है जिसे विसंस्कृतिकरण के आक्रमण के विरोध में अस्त्र की तरह हाथ में उठाया जा सके। कवि आरंभ में ही स्पष्ट करता है :

युद्धोपरांत
यह अंधायुग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं
एक बहुत पतली सी डोरी मर्यादा की।

युद्धोत्तरकालीन भारत की परिस्थितियों के संकेत इन शब्दों में अंतर्निहित है। द्वितीय विश्वयुद्ध का ध्वंस और तृतीय विश्वयुद्ध की संभावना का त्रास, दोनों मिलकर जिस मानसिकता का निर्माण करते हैं, 'अंधायुग' के प्रारंभिक अंशों में उसी की अभिव्यक्ति है। कृति के अंत की बात लें तो देखिए कवि कहता है :

उस दिन जो अंधायुग अवतरित हुआ जग पर
बीतता नहीं, रह-रहकर दोहराता है
हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं
हर क्षण अंधियारा गहरा होता जाता है

स्वीकार किया जा सकता है कि यही इस मिथकीय आख्यान का वह मर्मबिंदु है जिसकी समता द्वितीय युद्धोत्तर मानवीय नियति एवं स्थितियों में देखी गई थी। अर्थात् कमोबेश महाभारत युग से आज तक हम उन्हीं मानसिक यंत्रणाओं, रक्तपात, हिंसा और व्यर्थता के बोध के बीच विध्वंसों के अवशेष पर खड़े नई कोंपले फूटने का इंतजार करते रहे हैं। दो राय नहीं कि 'अंधायुग' के मिथकीय आख्यान की वर्तमान संदर्भों में अपनी संगति है और 1954 (रचनाकाल) के जमाने में रचना बेशक प्रासंगिक थी। 'अंधायुग' में कवि ने जो प्रश्न उठाए हैं उनकी प्रासंगिकता आज भी कायम है यद्यपि राजनीतिक स्थितियों में भारी परिवर्तन घटित हुए हैं।

इस मिथकीय आख्यान में मिथक का पुनःसृजन उतनी महत्वपूर्ण बात नहीं जितना महत्वपूर्ण है रचना में व्यक्त नया युगबोध। नये युगबोध के अनुसार सत्य और असत्य पर कोई निरपेक्ष या शाश्वत निर्णय नहीं लिया जा सकता। एक-एक कर सारे मूल्य टूटते और बदलते जा रहे हैं, जिसने हमारा विश्वास तोड़ डाला है और लोगों के जीने का एक बहुत बड़ा मानसिक सहारा उनसे छिन गया है। युयुत्सु की आत्महत्या उसी का परिणाम है। यह कितने दुर्भाग्य की बात है कि मनुष्य रास्ता चाहे सत्य का चुने चाहे असत्य का, दोनों का ही अंत पीड़ा में होता है। सत्य का पक्ष लेकर युयुत्सु अपनों से भी अपमानित हुआ और तथाकथित सत्य के पक्ष में खड़े भीम के दुर्वचन भी झेले, प्रजा की घृणा भी झेली। युद्ध को जीतने वाला युधिष्ठिर भी सुखी नहीं :

ऐसे भयानक महायुद्ध को
अर्द्धसत्य, रक्तपात, हिंसा से जीतकर
अपने को बिल्कुल हारा हुआ अनुभव कर
यह भी यातना ही है।

यह है वह नया युगबोध जो 'अंधायुग' के मिथक के माध्यम से व्यक्त हुआ है। इस युगबोध की आगे भी किंचित विस्तार से चर्चा की जा रही है, यहाँ वस्तुतः यह संकेत करना अभीष्ट है कि

जीवन की यह अंतिम त्रासदी जो नये युगबोध के रूप में 'अंधायुग' में उभरकर सामने आई है वस्तुतः कहीं गहरे आधुनिककालीन पश्चिमी अस्तित्ववाद के दर्शन से प्रभावित विचारधारा है। इस पाठ के अंत में अस्तित्ववादी जीवन दर्शन की चर्चा के प्रसंग में आप उन्हें जानेंगे। लेकिन पूरी बात को समझने के लिए हर समय यह ध्यान रहना चाहिए कि युद्ध की संभावनाएँ अथवा युद्ध स्वयं केवल बाहर-बाहर नहीं होता, व्यक्ति के मानस में भी निरंतर एक युद्ध जारी है। बाहर होने वाले युद्ध तो उस भीतरी युद्ध की स्थूल भौतिक अभिव्यक्ति मात्र है। भीतरी और बाहरी यही युद्ध वह सनातन प्रश्न है जिसकी व्याख्या महाभारत के रचनाकार से 'अंधायुग' तक के रचनाकार अपने-अपने ढंग से करते आए हैं। 'अंधायुग' की मिथकीय संगति अथवा कहें कि उसकी प्रासंगिकता के पक्ष में इतनी बातें सामने रहनी चाहिए।

10.3 'अंधायुग' की कथ्य चेतना

रचना के माध्यम से रचयिता जो कुछ कहना चाहता है साहित्य और साहित्यालोचन की भाषा में उसी को हम कथ्य, संदेश, उद्देश्य आदि शब्दों के नाम से जानते हैं। उस कथ्य तक पहुँचने के लिए हम रचना में प्रस्तुत की गयी स्थूल वस्तु-योजना की परीक्षा करते हैं। अतः कथ्य का संधान एक धरातल पर स्थूलता से सूक्ष्मता की यात्रा होती है, स्थूल शरीर के भीतर निहित सूक्ष्म आत्मा को पहचानने की कोशिश होती है। इस कोशिश में सबसे पहले हम नाटक के वस्तु-विधान पर दृष्टि डालेंगे।

नाटक के छह अंक हैं। प्रारंभ के तीन अंकों में 'महाभारत' के अठारहवें दिन के युद्ध का वर्णन है। यह वर्णन 'महाभारत' में दिए गए युद्ध के वर्णन जैसा नहीं है कि इसने यह बाण चलाया तो उसने वह। इसका बाण उसे लगा और उसका बाण किसे लगा, किसके अंग कटे, कौन गिरा, कौन छटपटाया आदि। पर ऐसा वर्णन नहीं है, ऐसा कहना भी ग़लत होगा क्योंकि दुर्योधन के आहत होने, अश्वत्थामा द्वारा पांडव शिविर का विनाश, अवश्वत्थामा और अर्जुन के द्वारा ब्रह्मास्त्र का प्रयोग, जैसी घटनाओं की चर्चा नाटककार ने की है, पर इन छोटे-छोटे प्रसंगों के निर्माण में वह वर्णनात्मकता नहीं है, या कहें कि वर्णन की वह स्थूलता नहीं है जो महाभारत की कथा में पायी जाती है। वस्तुतः नाटककार एक प्रसंग के रूप में शुरू के चार अंकों को गढ़ता है जिसके माध्यम से वह दर्शक-पाठक को विषय के प्रति अपनी दृष्टि का आभास एकदम स्पष्ट रूप से करा देता है। चौथे अंक में नाटककार यह एकदम स्पष्ट कर देता है कि किस प्रकार हर आदमी के भीतर अंधी गुफ़ाएँ होती हैं, जिसमें उस आदमी का आदिम, बर्बर, पशु रूप छिपकर बैठा रहता है और किसी ऐसे कमज़ोर क्षण का इंतज़ार कर रहा होता है जब वह पूरी ताक़त से हमला करके उसके भीतर के शुभ को, 'प्रभुता' को पराजित कर डाले। पाँचवें अंक में विजय की व्यर्थता, उसका गहरा होता हुआ एहसास उभरता है कि अगर 'महाभारत' का युद्ध धर्म के लिए या न्याय के लिए लड़ा गया सही कर्म था तो उसका फल शुभ अनुभव क्यों नहीं हो रहा। यह विध्वंस, आत्मघाती निराशा, अनास्था, उदासी और व्यर्थता का एहसास क्यों हो रहा है। शुभ का परिणाम तो मंगल, प्रशस्त, उल्लसित, विकासमान और आत्मा को शुद्ध करने वाला होना चाहिए, फिर यह ग्लानि क्यों। तो ज़रूर इस युद्ध की जड़ में कहीं बुनियादी ग़लती रही है। छठा अंक समापन और प्रभु की मृत्यु का अंक है। ईसा मसीह, मंसूर, सुकरात, की तरह कृष्ण ने लोक के पापों को अपने भीतर धारणा किया और मनुष्य को अंधकार से प्रकाश की ओर आने का संदेश दिया।

आपने 'अंधायुग' नाटक को अब तक अवश्य ही कई बार पढ़ा होगा। प्रस्तुत भाग से इस नाटक के संपूर्ण वस्तु विधान की केंद्रीय धुरी को आप आसानी से पहचान सकते हैं। वस्तु-विधान की इस केंद्रीय धुरी को आधार बनाकर अब हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि महाभारत के इस कथा का क्या आधुनिक संदर्भ भी है।

10.4 पौराणिक आख्यान का आधुनिक संदर्भ

'अंधायुग' काव्य नाटक को देखने-पढ़ने के बाद जो सबसे पहला सवाल में उठता है वह यह कि नाटककार ने एक पौराणिक कथा को अपने तरीके से फिर से लिखने की कोशिश तो नहीं की है? इसका उत्तर खोजते हैं तो पाते हैं कि, 'महाभारत' की कथा तो यहाँ है ही नहीं। 'महाभारत' की पृष्ठभूमि अवश्य है पर पृष्ठभूमि अपना एक आभास भर बनाए रखती है औ उस पृष्ठभूमि के प्रसंग में कुछ गंभीर प्रश्न उठाए गए हैं जिनका उत्तर हमें (और संपूर्ण मानव जाति को) अपने भीतर से तलाश करना है और पूरी ईमानदारी से तलाश करना है। 'महाभारत' का यह प्रसंग आत्मनिरीक्षण की गंभीर ज़रूरत पर बल देता है क्योंकि आज की स्थितियाँ 'महाभारत' से कम विस्फोटक या विध्वंसक नहीं है। तो क्या अपनी या कुछ लोगों की विवेकहीनता के कारण हम आज भी उसी द्वापर की तरह संपूर्ण मानव जाति को विनाश के अंधे गह्वर में धकेल दें, या धकेले जाने में दूसरों की मदद करें, या चुप रहकर धकेलने वालों का हौसला बढाएँ और खुद भी अंधेरे में खो जाएँ। ज़ाहिर है यह 'महाभारत' के पुराख्यान का पनुर्सृजन भर नहीं है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के विश्व को एक दृष्टांत के बहाने दी गयी चेतावनी है कि तीसरे विश्व युद्ध के बाद शायद महाभारत के पुराख्यान को दुहरानेवाला या फिर से उसे सुनने-सोचने वाला भी कोई शेष न बचेगा अगर समय रहते 'धर्म' एवं 'विवेक' का मतलब नहीं समझ लिया जाता, अपने भीतर के गहरे अंधेरे में छिपे हम अपने ही पाप की, आदिम बर्बर पशु मानव की,शनाख्त नहीं कर लेते और उसे काबू में नहीं कर लेते।

'अंधायुग' काव्य नाटक के वस्तु विधान की जिस भूल धुरी की चर्चा हमने की उससे यह स्पष्ट है कि यह नाटक पौराणिक आख्यान का पुनर्सृजन भर नहीं है। इसकी ध्वनियाँ कई और भी हैं। यह नाटक एक ओर जहाँ समन्वय के कई आयामों का संकेत करता है यथा आस्था और अनास्था, सत् और असत् आदर्श और यथार्थ, भाव और कला, काव्यत्व और दृश्यत्व आदि, वहीं दूसरी ओर एक व्यापक जीवन सत्य का उद्घाटन भी करता है कि आशा, सौंदर्य, उन्नति, आस्था, क्षमा, निर्माण आदि शुभत्व के मुकाबले कुंठा, निराशा, रक्तपात, प्रतिशोध, विकृति, कुरूपता, अंधापन भी जीवन और जगत का उतना ही कड़वा सच है जिनसे घबराने और भागने के बजाय जिनका मुस्तैदी से सामना करना ही जीवंतता है। अगर जीवन में शुभत्व कहीं एक बड़ी सच्चाई है तो उससे कम बड़ी सच्चाई अशुभत्व नहीं। सच का सामना हर आदमी को करना पड़ता है फिर अशुभ की उपेक्षा क्यों, उससे भागना क्यों। उनसे जूझने, उनका सामना करने और उन पर विजय पाना एक मनुष्य होने के नाते हर व्यक्ति का लक्ष्य होना चाहिए। ख़तरनाक बाहरी कुरूपताएँ और विद्रूपताएँ नहीं। डरना और सामना करना तो हमें अपने भीतर की उन छिपी हुई कुरूपताओं, विद्रूपताओं और अंधतत्वों का करना है जिनकी ओर दूसरों की तो क्या खुद हमारी अपनी नज़र भी कम ही जा पाती है। संक्षेप में धर्मवीर भारती यही बात कहते हैं जब वे लिखते हैं कि :

पर शेष अधिकतर हैं अंधे
पथ भ्रष्ट, आत्महारा, विगलित
अंतर की अंध गुफाओं के वासी
यह कथा उन्हीं अंधों की है
या कथा ज्योति की है अंधों के माध्यम से।

नाटककार के इन शब्दों को अधिक स्पष्ट करते हुए हम 'ऐसे भी कह सकते हैं कि 'अंधायुग' अंधां की कथा है अथवा कहें तो अंधों के बहाने ज्योति की कथा है। वास्तविकता यह है कि अंधेरे के बिना प्रकाश नहीं है और प्रकाश के बिना अंधेरा नहीं। चूँकि प्रकाश है इसलिए अंधकार है अथवा अंधकार का अस्तित्व है इसलिए प्रकाश भी है। जिन पर अंधकार हावी है, प्रकाश दबा हुआ है, वे महाभारत को पात्रों की तरह अंधे हैं अथवा अपनी-अपनी अंध गुफ़ाओं के वासी हैं, अंधकार में जीते हैं, अतः अशुभ, अमंगल, कुरूपता, विद्रूपता, कुण्ठा, सत्रांस, पीड़ा, विडंबना और वेदना में जीते हैं। कमोबेश 'अंधायुग' के प्रायः सभी पात्र चाहे उनका

बाहरी आभामण्डल शुभत्व मंडित ही क्यों न हो, भीतर-भीतर अपने अंधकार को जी और भोग रहे होते हैं। भीतरी अंधकार और बाहरी ज्योति के बीच समन्वय नहीं कर पाते हैं। एक क्षण के लिए एक द्वापर के लिए, अशुभ अंधकार जीत जाता है और व्याध के बाण से शुभ प्रभु मर जाते है। :

आह! वह सुनता नहीं
ज्योति बूझ रही है वहाँ, और जिस क्षण प्रभु ने प्रस्थान किया
द्वापर युग बीत गया उस क्षण
प्रभुहीन धरा पर आस्थाहत
कलियुग ने रखा प्रथम चरण

अंतर की अंध गुफ़ाओं का अंधकार हमारे जीवन में जब-जब जीतता है, शुभ की, प्रभु की मृत्यु होती है, द्वापर का अंत और कलियुग का प्रारंभ होता है। पाप की अंधकारपूर्ण छाया में व्यक्ति अपना शेष जीवन उन्हीं अंध गुफ़ाओं में भटकता हुआ काटता है। आज भी हर क्षण कहीं-न-कहीं किसी न किसी व्यक्ति के प्रभु की (मूल्यों की) हत्या हो रही है, उसके जीवन पर अंधकार का कलियुग हावी हो रहा है। अंधकार और प्रकाश का यह संघर्ष सनातन है।

अंधकार और प्रकाश की संघर्ष गाथा

थोड़ी देर के लिए हम निराश हो उठते हैं कि क्या हमेशा अंधेरा ही जीतेगा और प्रभु क्या सदैव मरते रहेंगे, शुभ क्या सदैव पराजित होता रहेगा। मंगल, शुभ, शाश्वत और चिरंतन के प्रति हमारी आस्थाएँ और हमारे विश्वास इसी प्रकार नित्य खण्डित होते रहेंगे। तो हम अंधकार को ही चरम सत्य मान लें, उसी के प्रति आस्थावान और विश्वासी बने?

सच कभी मरता नहीं। असंख्य तिथियाँ बीत गयी जब अंधकार ने सूरज को ग्रस लिया, पृथ्वी पर अंधकार का साम्राज्य स्थापित हो गया। परंतु आखिरकार अंधेरा छँटता है और हर रोज़ नये प्रभ के रूप में शुभ, मंगल, शाश्वत, सत्य और सूर्य का उदय होता है। पापी से पापी व्यक्ति के जीवन में भी वह क्षण आता है जब उसके अंतर की अंध गुफाओं के समस्त अंधकार को भेदकर ग्लानि और पश्चाताप के शुभ भाव जगते हैं और अपने समस्त पापों को वह प्रभु को अर्पित कर उनके चरणों में गति पाता है, अपने भीतर एक सर्वथा नवीन व्यक्ति के जन्म को अनुभव करता है। 'अंधायुग' में कृष्ण ने वृद्ध ज्योतिषी को प्रेत लोक की अंध योनि से मुक्ति दिलायी और नवजीवन दिया तथा अश्वत्थामा के पाप को स्वयं धारण किया, क्योंकि 'अंधायुग पैठ गया था मेरी (अश्वत्थामा की) नस नस में वृद्ध की वाणी में कृष्ण बोलते हैं कि उनकी मृत्यु प्रभु की मृत्यु नहीं मात्र 'रूपांतर' है। प्रभु अब दूसरे रूपों में मिलेंगे, उन रूपों में जिन्हें उन्होंने अपने प्रभुत्व का दायित्व सौंपा है : 'मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा/ हर मानव-मन के उस वृत्त में जिसके सहारे वह/ सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए/ नूतन निर्माण करेगा पिछले विध्वंसों पर/" कृष्ण ने आज के कंधों पर अतीत की भूल सुधारों का दायित्व सौंप दिया है।

सृजन और विनाश बनाम प्रकाश और अंधकार

जो ग़लती हमसे हो गयी है उसे फिर-फिर हम दुहराएँ नहीं, उससे सीखें और जानें कि हमें कैसे जीना है। हमारे सामने जो युद्धों के अवशेष पड़े हैं, हमें बराबर याद दिलाते रहेंगे, हिरोशिमा और नागासाकी की। हमने फिर से जीना सीखा है, आगे बढ़े हैं, पर किधर। क्या पुनर्विनाश की ओर नहीं। निर्माण ने तो सिद्ध किया कि प्रभु जीवित है पर क्या आगे फिर कभी द्वापर नहीं आएगा? यह भी एक वैसा ही गंभीर प्रश्न है जो यह नाटक उठाता है। युद्ध के विध्वंसों के अवशेष पर नयी सृष्टि रचने का आह्वान भी इस नाटक का मुख्य स्वर है। कारण छोटे हों या बड़े, हर पक्ष अपने को किसी नैतिक कारण से सम्बद्ध बताकर अपने संघर्ष को धर्मसम्मत, विवेकपूर्ण और न्याय का पक्ष साबित करता है जबकि वस्तुतः दोनों पक्षों में से धर्म कहीं भी नहीं होता। धर्म की दुहाई भर दी जाती है। विवेक कहीं नहीं होता, सब के सब कहीं

गहरे अपने अंधकार से ग्रस्त होते हैं। वस्तुतः विजय किसी की नहीं होती, सभी हारते हैं और मौत केवल मनुष्यता की होती है। इतनी बड़ी हानि सहने के बाद आदमी फिर से युद्धावशेषों पर नवनिर्माण में प्रवृत्त होता है, क्योंकि प्रभु सृष्टि में ही बसते हैं। पाप कौरवों ने कम नहीं किए, भूले पाण्डवों ने भी कम नहीं कीं। दोनों के युद्ध में शरीर से अधिक मानवीय मूल्य हताहत हुए। जिस राज-पाट के लिए युद्ध हुआ, जिसे कौरव अपने पास बनाए रखना चाहते थे और पांडव उस पर अपना नैतिक अधिकार समझ कर पाना चाहते थे, उस राज सुख से अंततः दोनों ही वंचित हुए क्योंकि सभी अंधी प्रवृत्तियों से परिचालित थे। हिंसा और प्रतिहिंसा, शोषण और प्रतिशोध, अहंकार और दंभ के संघर्ष में अंततः सबकी पराजय निश्चित थी।

नाटककार कहता है कौरव-पाण्डव दोनों पक्षों में धर्म कहीं नहीं था इसलिए दोनों ही हारे। सदा सच बोलने वाले युधिष्ठिर ने भी "अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा" कहकर वस्तुतः द्रोण की हत्या के षड्यंत्र में अपनी भागीदारी ही साबित की थी क्योंकि उन्हें उस छल की जानकारी थी कि "नरो वा कुंजरो" कृष्ण की शंखध्वनि में सुना ही नहीं जा सकेगा। इस छल में सच बोलने का एक नाटक भर युधिष्ठिर ने किया था। जीवन भर सत्य बोलने वाले युधिष्ठिर के इस आधे सच ने अश्वत्थामा के भीतर जिस प्रतिशोध और प्रतिहिंसा को जन्म दिया 'अंधायुग' नाटक उसी के परिणामों का दस्तावेज़ है। सदा झूठ बोलने वाले या व्यक्तिगत ज़रूरतों से झूठ बोलने वाले, या कभी-कभी शौक से मज़ा लेने के अंदाज़ में बोले जाने वाले झूठ की प्रतिक्रिया इतनी भयंकर नहीं हो सकती थी जितनी भयंकर प्रतिक्रिया युधिष्ठिर द्वारा बोले गए एकमात्र अर्द्धसत्य की हुई।'अंधायुग' की पूरी वस्तु योजना में से अश्वत्थामा को निकाल कर देख लीजिए कि जो शेष बचता है वह कितना प्रभावशाली है। या फिर अश्वत्थामा तो रहें लेकिन उसके भीतर से छल के द्वारा या अर्द्धसत्य की आड़ में की गयी पिता की 'हत्या' का प्रतिशोध, उसकी प्रतिहिंसा की भावना को ही निकाल कर देखिए कि तब क्या अश्वत्थामा वही होता जैसा नाटक में है, या यह कि तब क्या 'महाभारत' का वह अंत अथवा प्रभु की वैसी 'हत्या' भी हो पाती? ध्यान से देखें तो पूरे महाभारत में दोनों ही पक्षों द्वारा अपनाए गए छल-प्रपंच, षड्यंत्र, अधर्म, पापकर्मादि के मुकाबले में युधिष्ठिर का एकमात्र अर्द्धसत्य सब पर भारी पड़ता है जिसने पूरे द्वापर की दिशा बदल दी। अनेक संपूर्ण झूठों के मुकाबले में सत्य की आड़ में बोला गया एक मात्र आधा सच (या आधा झूठ) सबसे ज्यादा खतरनाक साबित हुआ। युधिष्ठिर के इस एकमात्र अर्द्धसत्य अर्थात् आधे झूठ ने मानो उनके और पूरे युग के संपूर्ण सत्य के प्रखर सूर्य को ग्रहण लगा दिया। सच के प्रकाश को असत्य के अंधकार ने निगल लिया। प्रकाश की किरणें जिन विषाणुओं को नष्ट करने में समर्थ हैं उन्हीं ने जैसे सच को खा लिया। अंधकार और प्रकाश का यह संघर्ष सब दिन रहा है और सब दिन रहेगा। समस्त संघर्षों और विनाशों के बावजूद आदमी और आदमियत बची रही है, रहेगी।

10.5 'अंधायुग' का राजनीतिक संदर्भ

ऐसा स्वीकार किया जाता है कि महान् साहित्यकार युगद्रष्टा और युगस्रष्टा होता है। युगद्रष्टा इसलिए कि अपने वर्तमान को देखकर वह भविष्य का फलितार्थ कहता है और युगस्रष्टा इसलिए कि अपने शब्दों से वह अपने समय को न केवल वाणी देता है अपितु दिशा भी। जिस समय 'अंधायुग' की रचना की गयी उसके कुछ ही समय पूर्व द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हुआ था और पूरा विश्व समाजवादी एवं पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की प्रतिनिधि शक्तियों रूस एवं अमेरिका के दो ध्रुवान्तों में बंट गया था। विश्वयुद्ध के ध्वंसावशेष पर नव-निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी थी और समय ने एक बार फिर से यह साबित कर दिया था कि मानवीय जिजीविषा अमर है, वह कभी नहीं मरती, और राख में फूटती हुई नयी कोपलों की तरह हर बार ध्वंस के अंबार पर नयी फसल के अंकुर उग आते हैं।

नाटक के अनुसार, आधुनिक युग ने एक दूसरी बात यह सिद्ध की कि व्यवस्था चाहे पूंजीवादी हों या साम्यवादी, दोनों की सोच की दिशा एक है, दोनों की वैचारिक धुरी एक है : अर्थात्

राजसत्ता पर निरंकुश अधिकार। विश्व के दो खेमें में बँट जाने की सतही तौर पर कौरव-पाण्डवों के मतभेद और संघर्ष में देखा जा सकता है पर उस झगड़े की जड़ भी 'राजसत्ता' है और द्वितीय विश्वयुद्ध की जड़ में भी 'राजसत्ता' का विस्तार ही है। दुर्योधन पांडवों को सुई की नोंक के बराबर हिस्सा देने के लिए तैयार न हुआ उसने पाण्डवों के अधिकार का अपहरण कर उन्हें निष्कासित कर दिया। ऐसी ही कार्रवाई हिटलर ने भी की थी। उसकी नज़र में यह पृथ्वी आर्यो की थी और आर्येतर या यहूदी न केवल दूसरे दर्जे के नागरिक थे बल्कि उनका स्वत्व अपहरण योग्य था। द्वितीय विश्वयुद्ध में लाखों-लाख यहूदियों, निरपराध नागरिकों को अपने प्राण गँवाने पड़े और महाभारत युद्ध की तरह लाखों-लाख सैनिकों का संहार हुआ। हिटलर की फासवादी राजनीति के विपरीत लोकतांत्रिक राजनीति जनता के हितों पर आधारित थी, परंतु स्वयं ये व्यवस्थाएँ भी अपने आपको अधिकारों के दुरुपयोग से नहीं बचाए रख सकीं। समाजवादी और पूंजीवादी शिविर में श्रेष्ठता की होड़ ने शस्त्रों का अंबार खड़ा कर दिया। दोनों अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करने में जुट गए। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इन दोनों शिविरों में जो तनाव और संघर्ष चला, उसने युद्ध का माहौल बना दिया जिसे शीतयुद्ध के नाम से जाना जाता है। 'अंधायुग' के रचनाकाल तक ये सारी स्थितियाँ लगभग स्पष्ट हो चुकी थी।

इस अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में एक नयी इकाई के रूप में भारत का उदय हुआ। भारत लगभग दो सौ साल की औपनिवेशिक दासता से अभी मुक्त हुआ ही था। इंगलैंड संहित पूंजीवादी देश अमरीका के नेतृत्व में भारत जैसे देशों को अपने राजनीतिक-आर्थिक नियंत्रण में रखना चाहते थे, जबकि समाजवादी देशों की प्रगति और बिना शर्त सहयोग का आश्वासन उसे समाजवादी शिविर की ओर खींच रहा था। भारत इन दो ध्रुवों के बीच खड़ा अपना मार्ग तय नहीं कर पा रहा था। ऐसी ही विकट स्थिति में लेखक, कलाकार भी अपने-अपने ढंग से अपना मत प्रकट कर रहे थे। धर्मवीर भारती जो प्रगतिशीलता और साम्यवाद को शंका की दृष्टि से देखते थे और जो पूंजीवाद और समाजवाद में कोई अंतर नहीं पाते थे, उनका स्पष्ट मानना था कि दोनों रास्ते गलत हैं और भारत के लिए वह सही मार्ग नहीं है। विश्व में शीतयुद्ध की स्थिति, युद्ध, तनाव, मूल्यहीनता आदि के लिए उन्हें दोनों बराबर जिम्मेदार नज़र आते थे।

'महाभारत' के विषय में आपने पहले से यह सुन रखा होगा कि महाभारत में जो नहीं है वह भारतवर्ष में नहीं है। राजनीतिक पतनशीलता और मूल्यों की गिरावट जो हम आज देखते हैं, अगर आप 'अंधायुग' के महाभारतीय परिवेश से उसकी समता को रेखांकित करने की हल्की-सी भी कोशिश करें तो यह समझने में बाधा नहीं रह जाएगी कि कमोबेश यही स्थिति उस समय भी थी। राजनीतिक पतनशीलता की पराकाष्ठा वहां थी जहाँ संपूर्ण राजसी शक्तियाँ कौरवों की व्यक्तिगत महत्वकांक्षा की पूर्ति के लिए प्रयोग में लाई जा रही थी। राजनीति में व्यक्तिवाद के बढ़ते प्रभाव ने मूल्यों को तब भी नष्ट किया था और आज की तारीख में भी कर रहा है। विवेचन का विषय यह नहीं रह गया कि सत्य किधर है या यह कि धर्म किधर है। 'माइट इज़ राइट' 'अंधायुग' जब लिखा गया तब भी था, और आज भी है। कुछ तो नहीं बदला है : दुर्योधन और दुःशासन तब भी थे आज भी हैं।

'अंधायुग' में लेखक ने ऐसी राजनीतिक स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया है, जहाँ सत्य किसी ओर नहीं है, न किसी ओर धर्म है। संपर्ण व्यवस्था मूल्यहीनता और निहित स्वार्थों की दासी हो गई है। प्रत्येक व्यक्ति दिग्भ्रमित है कि वह किधर जाए, क्या करे, किस पर भरोसा करे और इस दुष्चक्र से कैसे निकले। लेखक इस अनास्था और व्यर्थथाबोध से इस हद तक आंतकित है कि वह पूरे युग को 'अंधायुग' की संज्ञा देता है। 'अंधायुग' में सामूहिक संघर्ष, आदर्श तथा नैतिकता का कोई स्थान नहीं है। वे इस बात पर बल देते नज़र आते हैं कि हमारी बाह्य आस्था हमें सही दिशा नहीं दे सकती। 'अंधायुग' का प्रत्येक पात्र आस्थाहीन है। किसी को भी भविष्य पर भरोसा नहीं है। मनुष्य का भविष्य उन्हें मृत नज़र आता है। केवल आत्महत्या ही उन्हें दर्शन, धर्म, कला, संस्कृति तथा शासन व्यवस्था में व्यक्त होती नज़र आती है :

यह आत्महत्या होगी प्रतिध्वनित

इस पूरी संस्कृति में
दर्शन में, धर्म में, कलाओं में,
शासन व्यवस्था में
आत्महत्या होगा बस अंतिम लक्ष्य मानव का।

आज जब समाजवादी शिविर समाप्त हो गया है। प्रगतिशील ताकतें कमजोर पड़ गई हैं, 'अंधायुग' की यह राजनीतिक दृष्टि अपनी सीमा का भी एहसास कराती है। अमरीका के नेतृत्व में साम्राज्यवाद के वर्चस्व के बावजूद न तो युद्ध का भय समाप्त हुआ है और न ही मानवजाति के नैतिक संकट की समाप्ति हुई है। प्रतीत होता है जैसे एक अंधेयुग से दूसरे अंधेयुग में प्रवेश कर रहे हैं। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर हम इसे देख सकते हैं।

10.6 अंधायुग : बदलते मूल्यों का संकट

1947 में जब देश आजाद हुआ तो यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि देश किस ओर आगे बढ़े। भारतभूषण अग्रवाल ने उस समय की मनःस्थिति का चित्रण करते हुए प्रश्न किया था : 'कौन-सा पथ रे, कह!' 'अंधायुग' की भी मुख्य चिंता यही है। कौरव और पांडव दो समूह नहीं ये दो मार्ग हैं। वर्तमान संदर्भ में पूंजीवाद और समाजवाद के बीच संघर्ष और इनमें से कौन-सा मार्ग सही है और इसका निर्धारण कैसे हो? यह दो राजनीतिक मतों में से चुनाव का ही प्रश्न नहीं है। यह दो तरह के जीवन मूल्यों के बीच चुनाव का प्रश्न भी है। दोनों पक्ष अपने को सही और दूसरे को गलत बताते हैं। लेकिन 'अंधायुग' के अनुसार दोनों तरफ अर्द्धसत्य है। जीवन मूल्यों की इस टकराहट का भारतीय संदर्भ यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश के विकास का कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर इसे तय किया जाना है।

आजादी के लगभग सात-आठ साल बाद लिखा गया यह नाटक उस संघर्ष और अंतर्द्वंद्व को बताता है जो उस समय के मध्य वर्ग में चल रहा था। दूसरे विश्व युद्ध के बाद अंग्रेज़ी दासता से मुक्त हुए तीसरी दुनिया के देशों का हित किस में है - समाजवाद में या पूंजीवाद में, इसका चुनाव किया जाना था।

ये दो भिन्न-भिन्न राजनीतिक व्यवस्थाएँ ही नहीं है - दो भिन्न तरह की जीवन दृष्टि और जीवन मूल्य भी हैं। पूंजीवाद में स्वतंत्रता और नागरिक अधिकारों पर बल रहता है जबकि समाजवाद में समानता और शोषण से मुक्ति पर। पूंजीवाद में व्यक्ति के अधिकारों पर जोर रहता है और समाजवाद में समाज के सामूहिक हितों पर। पूंजीवाद में सामाजिक हितों की उपेक्षा होती है और समाजवाद में व्यक्ति हितों की। सामाजिक हितों के नाम पर समाजवाद व्यक्ति के अधिकारों का हनन करता है और पूंजीवाद व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर समाज में शोषण और उत्पीड़न को रोकने में असमर्थ रहता है।

जिन खण्डित किंवा अर्द्धसत्यों की बात 'अंधायुग' में की गई है उनका तत्कालीन संदर्भ यही है। इसलिए देश-काल, परिस्थिति भेद और व्यक्ति भेद से उनमें अंतर दिखायी पड़ना था कि भिन्नता दिखाई देना स्वाभाविक है। लेखक का मानना है कि इन सापेक्षिक सत्यों से ऊपर उठकर निरपेक्ष और शाश्वत मूल्यों की तलाश की जानी चाहिए क्योंकि यही वे मूल्य हैं, अथवा कहें कि यही वे अंतिम सच है, जो कभी बदलते नहीं और जो आसानी से दिखते नहीं। हम सत्य के किसी ख़ास हिस्से को ही पूरा सच मानने की भूल करते हैं, इसलिए सच के करीब होकर भी शाश्वत जीवन मूल्यों से कटे रह जाते हैं। शायद यही हमारी नियति है। धर्मवीर भारती सूक्ष्म संकेत के रूप मे इसी बात की ओर इशारा कर रहे होते हैं कि मानवीय नियति अंधकार के उस वृत्त में खो जाना नहीं है अपितु आगामी पीढियों के लिए मनुष्य बने रहने की आधारशिला प्रदान करना है। इसीलिए वे कहते हैं :

नियति है हमारी बंधी प्रभु के मरण से नहीं

मानव-भविष्य से!

नाटककार धर्मवीर भारती को उसी मानव भविष्य की चिंता अधिक सता रही है क्योंकि मानवीय मूल्य एक-एक कर या तो ध्वस्त होते जा रहे हैं या उनके आंतरिक संस्कार इतनी तेज़ी से बदल रहे हैं कि मानव भविष्य पर मंडराता ख़तरा उन्हें दिखाई देने लगा है। भरोसा है तो बस यही कि मूल्यों के प्रतीक प्रभु, शरीर से भले ही मर गए हों परंतु सृजन और निर्मिति के अलग-अलग रूपों में वे निराकार भाव से विद्यमान रहेंगे और मानव मूल्यों की रक्षा करने के लिए किसी न किसी रूप में आगे आते रहेंगे। संज्ञा और सर्वनाम बदले हो सकते हैं परंतु उस मूल प्रवृत्ति की मृत्यु नहीं हो सकती है।

थोड़ी गंभीरता से देखें तो एक बार ऐसा भी लगेगा कि नाटककार द्वारा प्रस्तुत संपूर्ण महाभारतीय प्रसंग कहीं गहरे, मूल्यहीन शक्ति के अभ्युदय से उपजी पाशविक बर्बरता के युगों की ओर वापसी की यात्रा थी क्योंकि महाभारत काल में क्रमशः एक-एक कर मूल्यों की मर्यादा का अतिक्रमण होता रहा। मूल्यहीन शक्ति के संचय ने ही पशु वृत्तियों का पोषण किया और प्रभु दत्त शुद्ध एवं पवित्र आत्मा लेकर आए मनुष्य भी आदर्शों से विमुख होते गये। आदर्श ओछे नहीं ऊँचे होने ज़रूरी होते हैं। अगर शुरू से ही लक्ष्य नीचा रखा जाए तो उस आदमी से ऊँचे निशाने की कितनी उम्मीद की जा सकती है। यह बात इस दृष्टिकोण से भी समझ लिया जाना ज़रूरी है कि संपूर्ण नाटकीय पृष्ठभूमि में पाप और कुकर्म का कुफल ही फलित हुआ दीखता है। हर किसी ने कहीं पाप किया, ओछे मूल्यों को प्रश्रय दिया और हर किसी का अंत दुखदायी रहा। कहा जाता है कि एक अर्द्धसत्य बोलने के पाप का दंड युधिष्ठिर को इस प्रकार मिला कि स्वर्गारोहण क्रम में जहाँ अन्य सभी पांडव क्रमशः बर्फ में समाधि लेते गए वहाँ युधिष्ठिर स्वर्ग तक पहुँचे पर उनकी भी एक उंगली गल गयी। धृतराष्ट्र, कुंती और गांधारी आदि अपनी ही लगायी आग में जलकर भस्म हुए। वीभत्स इशारे ने दुर्योधन की जंघा तोड़ दी। दुष्ट दुःशासन की छाती फाड़कर उसके रक्त से द्रौपदी ने वेणीसंहार किया। पर शेष पांडव सहित द्रौपदी भी तो सशरीर स्वर्ग नहीं जा सकी। मूल्यों को कसने की कसौटी यह वेणीसंहार, चीरहरण, अभिमन्यु वध या द्रोणाचार्य की हत्या, अश्वत्थामा का प्रतिशोध नहीं। मूल्यों की कसौटी कृष्ण थे, प्रभु थे जिन्होंने औरों के पापों का प्रायश्चित अपने माथे ले लिया, जिसने उत्तरा के गर्भ के रूप में मानव भविष्य की रक्षा अपने सुदर्शन रूपी चक्र से की। इतने सारे मूल्यों के संकट के बीच रोशनी की एक मशाल थे कृष्ण इसीलिए कृष्ण मूल्यों के आदर्श के रूप में स्वीकृत हुए।

10.7 'अंधायुग' पर अस्तित्ववादी जीवन दर्शन का प्रभाव

नयी कविता के संदर्भ में अस्तित्ववाद की चर्चा आमतौर पर की जाती रही है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं 'अंधायुग' में पूंजीवाद और समाजवाद दोनों की निंदा उनको एक-सी (औद्योगिक) सभ्यता मानकर की गई है। इन दोनों सभ्यताओं के विकास के मूल में वैज्ञानिक और तकनीकी विकास निहित है इसलिए इन लेखकों ने विज्ञान का भी विरोध किया। विज्ञान और वैज्ञानिक उन्नति से मनुष्य मध्ययुगीन अंधविश्वासों, कुंठाओं और अविवेकपूर्ण धारणाओं से मुक्त हुआ है तथा उसने स्वातन्त्र्य, समानता और बंधुत्व के नये मूल्य भी स्थापित किए लेकिन धर्मवीर भारती के अनुसार, "इस सारे अभियान का जो केंद्र बिंदु था अर्थात् मनुष्य, वह एक विचित्र शून्यता में परिणत होता गया। उसके लिए मूल्य निर्धारण की कसौटी क्या? उसके जीने का लक्ष्य क्या? उसकी यह विकास यात्रा हो किसलिए रही है? इसके लिए विज्ञान के पास कोई समाधान नहीं था। अभी तक जो तत्व मनुष्य को पशुओं से पृथक् सिद्ध करते थे, यानी उसकी विवेकपूर्ण संकल्प शक्ति और उसकी नैतिक चेतना उन दोनों को विज्ञान ने अमान्य सिद्ध किया। ... परिणाम यह था कि हम सारे मूल्यों का अवमूल्यन पाते हैं। एक विराट अराजकता, एक घातक अंधकारमय शून्य मूल्य के इस विघटन ने कैंसर की तरह मानवीयता को अंदर से खोखला बनाना शुरू किया।"

डॉ0 भारती के इस सोच पर अस्तित्ववादी प्रभाव को स्पष्ट रूप से पहचान सकते हैं। उनके यहाँ आधुनिक सभ्यता के विनाश की समस्या प्रमुखता से उभरकर आती है। 'अंधायुग' का कथ्य यही है कि यह संसार विनाश की ओर तेज़ी से अग्रसर है और इसे न ईश्वर, न वैज्ञानिक विचारधारा, न आदर्श, न आस्था और न व्यापक सामाजिक जीवन मूल्य बचा सकते हैं। यद्यपि कवि का दावा है कि "पर एक नशा होता है अंधकार के गरजते महासागर की चुनौती को स्वीकार करने का, पर्वताकार लहरों से खाली हाथ जूझने का, अनमापी गहराइयों में उतरते जाने का और फिर अपने को सारे खतरों में डालकर आस्था के, प्रकाश के, सत्य के, मर्यादा के कुछ कणों को बटोर कर, बचाकर धरताल तक ले जाने का।" लेकिन 'अंधायुग' के अध्ययन से यह नहीं लगता कि कवि को आस्था, प्रकाश, सत्य और मर्यादा के कण मिले हैं। इसका प्रमाण है 'अंधायुग' के पात्रों की अंतिम परिणति। युयुत्सु जो सत्य के पक्ष में लड़ा था अंत में 'आत्मघाती अंध' रह जाता है, अश्वत्थामा 'अमानुषिक' और संजय 'निष्क्रिय अपंगु'। तब भविष्य को कौन बचाएगा। क्योंकि नाटककार ने साधारण जन की नियति तो पहले से तय कर दी है। सामाजिक प्रश्नों को सामाजिकता से काटकर निजी स्तर पर हल कर लेने का दावा एक छलावा ही है। अस्तित्ववाद इस छलावे को गंभीर दार्शनिक मुद्रा ही देता है, इससे अधिक कुछ नहीं।

धर्मवीर भारती की कठिनाई यह है कि वह सत्य और मूल्यों की खोज के प्रश्न को व्यक्ति के साहसिक अभियान के रूप में पेश करते हैं जिसमें उसकी पराजय भी पहले से निश्चित है। इस पराजय भावना से उसका काव्य नाटक अपनी यात्रा शुरू करता है और सत्य की बजाय पराजय भावना ही व्यक्त करता रहता है। इसे ही कवि सत्य की खोज मान लेता है। इसी पराजय भावना के पीछे कवि पर सामूहिकता का मानसिक दबाव है। जनता, सामूहिक अभियानों तथा सामाजिक दर्शनों के प्रति उनमें घृणा की हद तक विरक्ति भरी हुई है।

डॉ0 भारती पर अस्तित्ववाद का प्रभाव इस रूप में भी दिखाई देता है कि उनके सोच में इतिहास विरोध का आग्रह है। उनका मानना है कि इतिहास की गति कुछ असाधारण व्यक्तियों के हाथों में होती है और वे अपनी इच्छानुसार इतिहास की गति को मोड़ देते हैं :

किंतु उस दिन यह सिद्ध हुआ कि
जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है
नियति नहीं है, पूर्व निर्धारित
उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता-मिटाता है।

कवि का यह कहना सही है कि नियति पूर्व निर्धारित नहीं होती, उसे मनुष्य ही बनाता-बिगाड़ता है। लेकिन एक व्यक्ति इतिहास की दिशा मोड़ सकता है, यह अवैज्ञानिक और अयथार्थ मत है। भारती इतिहास को कुछ व्यक्तियों के क्रियाकलापों में सीमित कर देखते हैं इसलिए वह इतिहास में वर्णित संघर्षों और संहारों की वस्तुपरक व्याख्या नहीं कर पाते और सोचते हैं कि जिस जननायक के हाथों में गतियों की डोर होती है, वह चाहे जिस ढंग से इतिहास का निर्माण कर सकता है और साधारण जन सिर्फ उसका अंधानुकरण करते हैं। जो विवेकवान पुरुष जननायक की भूल को पहचान जाते हैं और उसका अनुकरण करने से इंकार कर देते हैं, वे इतिहास से बाहर कर दिए जाते हैं। इस प्रकार, श्री भारती की दृष्टि में इतिहास केवल सफल और असफल लोगों के पारस्परिक संघर्षों का दूसरा नाम है। इतिहास की दोषपूर्ण समझ के कारण ही उनकी कविताओं में भविष्य की तस्वीर भी अतीत की तरह अंधकारपूर्ण है। वह 'अंधायुग' में जिस अंधकार को कल्पित करते हैं उसके परिणामस्वरूप वहाँ भविष्य भी उतना ही अंधकारपूर्ण बनकर उपस्थित हुआ है।

धर्मवीर भारती के साहित्य में सामूहिक संघर्ष, आदर्श तथा नैतिकता का कोई स्थान नहीं है। उन्होंने अपने लेखन में बराबर इस बात पर बल दिया है कि हमारी बाह्य आस्था हमें सही दिशा नहीं दे सकती। 'अंधायुग' का प्रत्येक पात्र आस्थाविहीन है। किसी को भी भविष्य पर भरोसा नहीं है। मनुष्य का भविष्य उन्हें मृत नज़र आता है। केवल आत्महत्या ही उन्हें दर्शन, धर्म, कला, संस्कृति तथा शासन-व्यवस्था में व्यक्त होती नज़र आती है :

यह आत्महत्या होगी प्रतिध्वनित
इस पूरी संस्कृति में
दर्शन में, धर्म में, कलाओं में
शासन व्यवस्था में
आत्मघात होगा बस अंतिम लक्ष्य मानव का।

'अंधायुग' की पात्र सृष्टि पर इस दर्शन की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। नाटक के मुख्य पात्र अश्वत्थामा को लें। पिता की मृत्यु उसके लिए दुर्भाग्य का कारक घटक बन गया जिसने उसके जीवन की सारी शिक्षा-दीक्षा, आचार-विचार, नीति-अनीति, उचित-अनुचित के विवेक को प्रतिहिंसा एवं बदले की आग में झोंक दिया और उसकी अंतिम परिणति शापमुक्ति के लिए छटपटाते अंग-अंग की पीड़ा झेलते, अनवरत मानसिक संताप सहते और मृत्यु से भी गर्हित जीवन जीते हुए बीतता है। उसकी प्रतिहिंसा की जघन्यता इतनी घातक है कि मन के किसी कोने से भी उसे सहानुभूति नहीं मिलती। द्रोणाचार्य ने अपने जिस पुत्र को सर्वविद्या और सर्वगुण सम्पन्न अर्द्धदिव्य व्यक्तित्ववादी के रूप में गढ़ा था उसकी वह दुर्भाग्यपूर्ण परिणति किसी को भी कचोट सकती है।

दुर्भाग्य का मारा ऐसा ही दूसरा चरित्र है कौरवों में से युयुत्सु जिसने पांडवों के पक्ष को धर्म का पक्ष माना और विश्वास किया कि कृष्ण ही ईश्वर है। परंतु पांडवों की विजय के बाद उसे पांडवों की ओर से भी उपहास और तिरस्कार मिला, माता-पिता और अन्य कुटुम्बियों से केवल घृणा मिली और युद्ध में आहत सैनिकों तथा प्रजाजनों से अपमान मिला। नियति की इस दुर्भाग्यपूर्ण विडंबना को झेलने से असमर्थ होकर जब उसने परात्पर प्रभु कृष्ण की ओर हाथ पसारा तो पाया कि वह ईश्वर नहीं साधारण मनुष्य भर है। उसके सारे विश्वास और कृष्ण पर उसकी समस्त आस्था तार-तार होकर बिखर गयी। दुर्भाग्य का मारा युयुत्सु अपने दुर्भाग्य, को सार्थक सिद्ध करता हुआ अंततः आत्महत्या के लिए विवश हो गया। वृद्धयाचक एवं ज्योतिषी की बात लें। उसकी सारी गणनाएँ झूठी हो गयी। उसकी मायावी शक्ति का सम्मोहन सहज ही, केवल रथ के चक्कों की आवाज़ से, भंग हो गया। दूसरों का भाग्य बताने वाला वह ज्योतिषी अंततः अश्वत्थामा के हाथों स्वयं अपन दुर्भाग्य का शिकार बन गया। सौ पुत्रों की माता गांधारी और पिता धृतराष्ट्र अंततः पुत्रहीन होकर दुर्भाग्य के दावानल में जल मरे। अनवरत हिंसा और धर्म-अधर्म से युद्ध जीतने के बाद भी युधिष्ठिर को विनाश की तुलना में विजयश्री गाली की तरह चोट देने वाली लगी। नाटक के अधिकांश पात्र दुर्भाग्य के जीते जागते नमूने हैं। दुर्भाग्य के दर्शन के प्रणेताओं में नीत्शे का वचन था 'ईश्वर मर गया है' और 'अंधायुग' का सबसे दिव्य पात्र कृष्ण एक साधारण व्याध के साधारण बाण से मारा जाता है।

युधिष्ठिर ने सत्यवादी की उपाधि पायी लेकिन उस युधिष्ठिर का भी दुर्भाग्य देखिए कि अंततः अर्द्धसत्य का कलंक उन्हें भी लग गया। काफ्का ने कहा था कि विसंगति और संवादहीनता तो मानव नियति (दुर्भाग्य) है। उससे हम किसी हालत में बच ही नहीं सकते इसलिए उनसे हमें समझौता करना ही होगा या फिर टूटकर दुर्भाग्यपूर्ण जीवन बिताना पड़ेगा। परिस्थितियों एवं विसंगतियों से संवाद स्थापित करना होगा तभी हम जी सकते हैं नहीं तो अश्वत्थामा, ययुत्सु, या याचक की तरह दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति में जीवन त्यागना या बिताना पड़ेगा। थोड़ी देर के लिए हम कृष्ण के दिव्य स्वरूप को भूल जायं तो इस पूरे संदर्भ में कृष्ण भी एक ऐसे ही पात्र दिखते हैं जो विसंगतियों के साथ संगति बिठाने की कोशिश में दुर्भाग्यपूर्ण मृत्यु के शिकार हुए। इस प्रकार एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि भारती के काव्य नाटक 'अंधायुग' पर

अस्तित्ववादी जीवन दर्शन की छाप 'दुर्भाग्य के दर्शन' के रूप में एकदम स्पष्ट देखी जा सकती है।

'अंधायुग' पर अस्तित्ववादी जीवन दर्शन के प्रभाव का एक अन्य पक्ष उसमें विद्यमान आत्मनिर्वासन की भावना की मौजूदगी के रूप में देखा जा सकता है। फ्योदोर दोस्तावस्की ने अस्तित्ववाद को आत्मनिर्वासन की भावना से जोड़ा और यह स्थापना की कि यह संसार हमारा वास्तविक संसार नहीं है। यहाँ हम बाहरी आदमी की तरह हैं, इसलिए हमें आस-पड़ोस के, घर बार के आदमियों की सुविधा-असुविधा का ध्यान रखते हुए ठीक उसी तरह हर पल सावधानी से जीना है जिस प्रकार बतीस दांतों के बीच जीभ रहती है। हमारे ऊपर हज़ारों नियम, कानून, शिष्टाचार आचार-विचार आदि की पांबंदियाँ हैं। इसलिए इस संसार में हमारी स्थिति बड़ी विसंगत है (एब्सर्ड है) और किसी बाहरी आदमी (out sider) की तरह यह आत्मनिर्वासन झेलने के लिए हम विवश हैं। आगे चलकर इसी 'एब्सर्डिटी' और 'एलियनेशन' के दर्शन में 'एब्सर्ड थियेटर' का रूप लिया। 'अंधायुग' काव्य नाटक में आत्मनिर्वासन की इस भावना का सबसे जीवंत उदहारण युयुत्सु है जो कौरव होकर भी सिद्धांतवश पाण्डवों की ओर से महाभारत का युद्ध तो लड़ता है परंतु अंततः हर ओर से तिरस्कार झेलता हुआ अपने आपको भीड़ भरी दुनिया में भी इतना अकेला पाता है कि आत्महत्या कर लेता है। गांधारी, कुंती और धृतराष्ट्र को यह ज्ञान अंतिम समय में होता है कि उन्होंने अब तक जो जिया वह व्यर्थ था क्योंकि यह दुनिया उनकी दुनिया थी ही नहीं और इसी सोच में सब हस्तिनापुर छोड़ने का निर्णय लेते हैं। यह निर्णय स्पष्टतः आत्मनिर्वासन का निर्णय है। प्रतिहिंसा की आग में जलता अश्वत्थामा भी वन-वन भटकता हुआ इसी आत्मनिर्वासन में जी रहा होता है।

अस्तित्ववाद मूल्यों की हताशा और टूटते विश्वासों का जीवन दर्शन है। हर मूल्य टूट रहा है हमारा हर विश्वास टूटता जा रहा है। अपने सामने इस दुर्घटना को रोज़-रोज़ घटते देखकर मूल्यों के प्रति अनास्था और जीवनगत आस्था के प्रति हताशा का उदय अस्वाभाविक भी नहीं। 'अंधायुग' की नाट्यवस्तु को सामने रखें तो मूल्यों के प्रति यह हताशा का भाव स्पष्ट है। मूल्यों के संकट की बात पहले कही जा चुकी है। सार्त्र जैसे विद्वान दर्शनिक की वैचारिक पीठिका ही संकट का दर्शन है। संकट यह है कि ऐसी विषम और भीषण परिस्थिति में वस्तुतः किया क्या जाना चाहिए, न यह हमारे सामने स्पष्ट है और न कोई बतानेवाला ही सामने है। नीत्से ने कहा जो हमें राह बताता वह ईश्वर कब का मर चुका है। हम अंधकार में जीने और अंधकार मे ही टटोल-टटोल कर हाथी को पहचानने की प्रक्रिया में जी रहे हैं - जैसे महाभारत काल में 'अंधायुग' के पात्र जीते रहे और जैसे आज के पात्र जी रहे हैं। मूल्यों के सारे आदर्श एक-एक कर ढहते जा रहे हैं, ईश्वर की प्रतीक्षा बनी है कि, वह आये तो समय को संभाले। पीढ़ी दर पीढ़ी बीतती जा रही है, पर वह आ नहीं रहा है। क्या सचमुच ईश्वर मर गया है। या महाभारत में जो कृष्ण मरे थे क्या वे सचमुच ईश्वर ही थे या कोई महामानव या मानव मूल्य? अर्थात् सभी मूल्यों पर प्रश्न चिह्न लग चुके हैं। 'अंधायुग' काव्य नाटक पर अस्तित्ववाद के प्रभाव को इन रूपों में भी स्पष्ट देखा जा सकता है।

अंततः, धर्मवीर भारती ने 'अंधायुग' की रचना के लिए निश्चय ही मिथकीय आख्यान का सहारा लिया है लेकिन मिथकीय आख्यान की आवृत्ति उनका लक्ष्य नहीं रहा। इस मिथक के सहारे वे आधुनिकता के नये युगबोध को वाणी देना चाहते थे। इसके जरिए वे मानव भविष्य पर संभावित संकट का पूर्वाभास कराना चाहते थे कि दो-दो विश्वयुद्धों के बाद अब तीसरा विश्वयुद्ध भी संभव है, जिसमें बहुत कुछ नष्ट हो सकता है। इस हताशा, निराशा, अस्तित्व के संकट आदि ने जीवन के मूल्यों और विश्वासों को तोड़ना शुरू कर दिया। फलतः जीवन में आस्थाहीनता, विश्वासहीनता, दिशाहीनता, मूल्यों का संकट एवं ऐसी अन्य नयी-नयी बातें पैदा हुईं, जिसे आधुनिक युगबोध कहा गया। पश्चिम में इस बात को लेकर जो कुछ सोचा विचारा गया वह अस्तित्ववाद के नाम से जाना गया और विश्व के अनेक देश उसके प्रभाव में रहे। भारती के लेखन पर भी इस प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है।

10.8 सारांश

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के दूसरे खंड की चौथी इकाई और पाठ्यक्रम की दसवीं इकाई में आपने 'अंधायुग' के बारे में अध्ययन किया है। इस इकाई में आपने पढ़ा कि कैसे धर्मवीर भारती ने महाभारत युद्ध के आखरी दिन की कथा को जो एक मिथकीय कथा है, उसे पुनः सृजित किया है।

'अंधायुग' में कौरवों और पांडवों के बीच हुए युद्ध को विषय बनाया गया है। आधुनिक संदर्भ में ये पूंजीवाद और समाजवाद के बीच का संघर्ष है। अंत में विजय पांडवों की होती है। लेकिन भारती प्रश्न उठाते हैं कि क्या सत्य पांडवों की ओर था। इस युद्ध में विजय किस की हुई, सत्य की, नैतिकता की? क्या युद्ध के द्वारा मानव मूल्यों को स्थापित किया जा सकता है? इकाई में इन प्रश्नों पर विचार किया गया है।

'अंधायुग' का गहरा संबंध तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से है। इसका संबंध राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों तरह की परिस्थितियों से है। राष्ट्रीय स्तर पर यह उस समय के द्वंद्व को व्यक्त करता है कि देश को किस ओर बढ़ना चाहिए - समाजवाद की ओर या पूंजीवाद की ओर। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सोवियत संघ के नेतृत्व वाले समाजवादी शिविर की ओर या अमरीकी नेतृत्व वाले साम्राज्यवादी शिविर की ओर। इस इकाई में 'अंधायुग' के संदर्भ में इस पहलू पर भी विचार किया गया है।

'अधायुग' का संबंध बदलते मानव मूल्यों से भी है। तत्कालीन परिस्थितियों में मानव मूल्यों का संकट रचनाकारों के लिए गहरी चिंता का विषय था। मूल्यों को लेकर व्यक्ति और समाज दोनों स्तरों पर जो द्वंद्व दिखाई दे रहा था, उस चिंता और द्वंद्व की अभिव्यक्ति इस गीति नाट्य में भी हुई है।

'अंधायुग' के रचनाकार पर अस्तित्ववाद का भी गहरा असर था। अस्तित्ववाद प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान यूरोप की स्थितियों से उत्पन्न दर्शन था। इसका प्रभाव आधुनिकतावाद से प्रभावित लेखकों पर भी दिखाई देता है। 'अंधायुग' के संदर्भ में अस्तित्ववादी, प्रवृत्तियों का विश्लेषण इकाई में किया गया है।

इस प्रकार, इस इकाई को पढ़ने से 'अंधायुग' को एक मिथकीय आख्यान के पुनःसृजित करने के लेखकीय प्रयास को समझने में मदद मिलेगी, उन आधुनिक संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में भी जिसने 'अंधायुग' को लिखने की प्रेरणा दी।

अभ्यास

1. 'अंधायुग' की कथावस्तु का आधुनिक संदर्भ में विवेचन कीजिए।
2. 'अंधायुग' के तत्कालीन राजनीति संदर्भों में व्याख्यायित करते हुए लेखक की राजनीतिक दृष्टि की समीक्षा कीजिए।
3. 'अंधायुग' पर अस्तित्ववादी जीवन दर्शन के प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 11 'अंधायुग' में चरित्र सृष्टि

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 अंधायुग : चरित्र चित्रण की विधियाँ
11.3 'अंधायुग' के प्रमुख पात्र
11.4 'अंधायुग' के चरित्रों की प्रतीकात्मकता
11.5 'अंधायुग' में चरित्रों का मूल्यगत संघर्ष
11.6 सारांश

11.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी से संबंधित पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के दूसरे खंड की इस पाँचवी इकाई में आप धर्मवीर भारती के काव्य नाटक 'अंधायुग' के बारे में अध्ययन कर रहे हैं। इस इकाई में 'अंधायुग' के पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के बारे में पढ़ेंगे।

'अंधायुग' नाटक भी है और काव्य भी। यह कृति 'महाभारत' की कथा पर आधारित है। इसके अधिकांश पात्र 'महाभारत' महाकाव्य से ही लिये गए हैं। कुछ नाटककार द्वारा कल्पित पात्र भी हैं। कुछ पात्रों की नाटक में केंद्रीय भूमिका है और कुछ की भूमिकाएँ सीमित हैं। लेकिन नाटक के विभिन्न पात्रों के चरित्र-चित्रण की धर्मवीर भारती ने कई विधियाँ अपनाई हैं। आप इन विधियों के बारे में इकाई में अध्ययन करेंगे।

'अंधायुग' के विभिन्न चरित्र कौन-कौन से हैं और उनकी चारित्रिक विशेषताएँ क्या हैं, चारित्रिक विशेषताएँ नाटक में किस तरह उभर कर सामने आती हैं, इन सबको समझने से नाटक के अर्थ को समझने में मदद मिलती है। आप 'अंधायुग' के चरित्रों की विशेषताओं के बारे में भी इकाई में जानकारी प्राप्त करेंगे।

'अंधायुग' के चरित्र मिथकीय चरित्र हैं। इसकी कथा भी महाभारत कालीन हैं। लेकिन इस नाट्य रचना का उद्देश्य आधुनिक है। इसलिए नाटक को आधुनिक संदर्भों में रखकर ही समझा जा सकता है। ऐसी स्थिति में 'अंधायुग' के चरित्र सिर्फ व्यक्ति नहीं रहते प्रतीक हो जाते हैं। इकाई में 'अंधायुग' के चरित्रों की प्रतीकात्मकता पर भी विचार किया गया है।

'अंधायुग' के चरित्र मानव मूल्यों के लिए संघर्षरत नज़र आते हैं। ये चरित्र पाशविक, मानवी और दैवीय प्रवृत्तियों से संचालित हैं। इनके माध्यम से मूल्यों का जो संघर्ष सामने आता है, नाटक उसे अत्यंत प्रभावशाली रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। इकाई में आप 'अंधायुग' में विभिन्न चरित्रों के मूल्यगत संघर्ष से भी परिचित होंगे।

11.1 प्रस्तावना

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम-4 की इस ग्यारहवीं इकाई में आप हिंदी के प्रख्यात कवि, कथाकार और नाटककार धर्मवीर भारती के काव्य नाटक 'अंधायुग' के बारे मे अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई में आप 'अंधायुग' मे चरित्र-चित्रण के संबंध में जानकारी प्राप्त करेंगे।

'अंधायुग' से संबंधित इससे पूर्व की इकाई में आपने नाटक की कथावस्तु के विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया था। महाभारत की कथा पर आधारित यह नाटक जब रचा गया था, उस समय की राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों का प्रभाव उसकी पृष्ठभूमि में था। यही कारण है कि 'अंधायुग' को आधुनिक संदर्भों में समझना ज़रूरी है। इसके बिना हम नाटक के वास्तविक मंतव्य को भी नहीं समझ पाएँगे।

'अंधायुग' के पात्र भी महाभारतकालीन हैं। कृष्ण, अश्वत्थामा, युयुत्सु, संजय, धृतराष्ट्र, गांधारी, कृपाचार्य आदि पात्र महाभारत से ही लिए गए हैं। ये पात्र 'अंधायुग' में आकर ठीक वही नहीं रहते जैसे कि वे 'महाभारत' में चित्रित हुए हैं। 'महाभारत' में अश्वत्थामा की कथा आती है। वह द्रोणाचार्य का पुत्र है और युद्ध में कौरव पक्ष की ओर से वही अंत तक जीवित रहता है। लेकिन वह 'महाभारत' का केंद्रीय चरित्र नहीं है जबकि 'अंधायुग' में अश्वत्थामा केंद्रीय चरित्र है। युयुत्सु जो कौरव होते हुए भी पांडवों की ओर से युद्ध में भाग लेता है, इस नाटक में अत्यंत महत्व के साथ उजागर होता है।

'अंधायुग' में चरित्रों को जिस ढंग से और जिन विशेषताओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, उसे तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक कि हम नाटक की रचना के वास्तविक उद्देश्यों और समस्याओं के संदर्भ में रखकर उन्हें नहीं देखते।

'अंधायुग' के पात्रों के संदर्भ में प्रतीकात्मकता का इसीलिए महत्व है क्योंकि वे चरित्र से ज्यादा प्रतीक हैं। कृष्ण ईश्वर नहीं है। अश्वत्थामा सिर्फ द्रोणाचार्य का पुत्र नहीं है। वे मनुष्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के भी प्रतीक हैं। नाटक के माध्यम से भारती ने मनुष्य समाज में चलने वाले मूल्य संघर्ष को चित्रित किया है और नाटक में चरित्र सृष्टि को इसी संदर्भ में रखकर विचार करना आवश्यक है।

11.2 अंधायुग : चरित्र-चित्रण की विधियाँ

नाटकों की चरित्र सृष्टि के विषय में जब हम बात करना शुरू करते हैं तो हमें हमेशा निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना पड़ता है :

- पहली बात यह कि अन्य साहित्यिक विधाओं की तरह नाटककारों को अपनी ओर से पात्रों का चरित्र चित्रण करने की आज़ादी नहीं होती क्योंकि नाटकों की रचना अनेक प्रकार की शिल्पगत सीमाओं के बीच होती है।

- दूसरी बात यह ध्यान में रखनी होती है कि 'पात्र' और 'चरित्र' शब्द का प्रयोग समानार्थी रूप से नहीं किया जाना चाहिए। सामान्य रूप से पात्र किसी प्रकार के बर्तन को कहा जाता है जिसमें कुछ या कोई सामान रखा जाता है। यह रखी जाने वाली वस्तु चरित्र है जिससे व्यक्ति की निजता, आंतरिक विशिष्टता, व्यक्ति वैचित्र्य, सामान्य एवं विशिष्ट गुणादि का पता चलता है। जैसे रामचंद्र एक पात्र है परंतु उनमें तुलसीदास ने जो चारित्रिक विशिष्टताएँ भरी है और उनकी जो अनन्यता स्थापित की हैं उससे नरेन्द्र कोहली के नाटक 'शंबूक की हत्या' और/या भारत भूषण अग्रवाल के नाटक 'अग्निलीक' के राम नितांत भिन्न है।

- तीसरी महत्वपूर्ण बात यह ध्यान में रखनी होती है कि नाटकों में लिये गये पात्रों के माध्यम से मनुष्य के अंतर्जीवन की सूक्ष्मताओं और गहराइयों को आंकना नाटककार का अभीष्ट होता है। नाटक में घटनेवाली घटना के प्रति विभिन्न चरित्रों की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया के माध्यम से अथवा कहें कि परिस्थितियों की कसौटी पर चरित्र को निखारने की विधि, अपनायी जाती है। इसलिए अधिकांश नाटकों में अधिकांश पात्र प्रतीकात्मक चरित्र लिए होते हैं और अपने ओर से बड़े अर्थ की व्यंजना करते हैं और यह भी कह सकते हैं कि

सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर अग्रसर होते हैं। ऐसे पात्र जब प्रतीकात्मक चरित्र धारण करते हैं तो वे विभिन्न मानवीय भावों, प्रवृत्तियों और मूल्यों आदि का प्रतिनिधित्व कर रहे होते हैं; विकृति या संस्कृति के, सत् या असत् के, प्रतीक हो उठते हैं। नाटककार द्वारा पात्रों के निर्माण की सफलता इसमें होती है कि वह प्रतीकत्व को ऊपर से लादे नहीं, सहज जीवन यथार्थ के रूप मे स्वयं उभरने दे।

- नाटक क्रिया-व्यापार सापेक्ष रचना है। इसलिए चरित्र-चित्रण की एक युक्ति तो यह संभव है कि उन दृश्य परिस्थितियों का निर्माण किय जाय जिनकी प्रतिक्रिया में पात्र अपने-अपने चरित्र (अर्थात् आंतरिक गुणावगुण) को प्रकट करे। रास्ते के निकट एक फुलवारी में एक सुंदर सी गुलाब की कली खिली है। रास्ते से गुजरने वाले एक वैज्ञानिक, एक दार्शनिक, एक कवि, एक दुखी और शोक संतप्त व्यक्ति, एक सौंदर्य प्रेमी, एक पुष्पप्रेमी की प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न होंगी और सबसे भिन्न होगी एक विकृत व्यक्ति की प्रतिक्रिया जो उस कली को नोंच-तोड़कर, मसल कर फेंक दे सकता है। दृश्य एक ही है पर नाटककार विभिन्न पात्रों के चरित्र की प्रतिक्रियाएँ उभारकर उनका चरित्रभेद उजागर कर सकता है।

- नाटक संवाद प्रधान रचना है। अतः संवाद और संवाद की भाषा के माध्यम से भी नाटककार चरित्र की अंतरंगताएँ उभार सकता है। इसे कई प्रकार से किया जा सकता है : अलग-अलग भाव-दशा में जीने वाले पात्रों की मानसिक अवस्था को द्योतित करने वाली भाषा के माध्यम से। शांत स्वभाव विदुर, गंभीर भीष्म, ज्ञानी कृष्ण, अंधत्व के कारण हीन ग्रंथि से पीड़ित धृतराष्ट्र, क्रोधी भीम, सत्यवादी युधिष्ठिर, दंभी और अहंकारी दुर्योधन, प्रतिहिंसा में जी रहा अश्वत्थामा आदि, विभिन्न भाव प्रधान पात्रों की चारित्रिक विशिष्टता उन भावों से जुड़ी भाषा के माध्यम से व्यक्त की जा सकती है और 'अंधायुग' नाटक में तो ऐसा किया भी गया है।

अश्वत्थामा की प्रतिहिंसा को व्यक्त करने वाला निम्नलिखित संवाद इसका प्रमाण है :

मैं क्या करूँगा
हाय मैं क्या करूँगा?
वर्तमान में जिसके
मैं हूँ और मेरी प्रतिहिंसा है!
एक अर्द्धसत्य ने युधिष्ठिर के
मेरे भविष्य की हत्या कर डाली है।
किंतु, नहीं,
जीवित रहूँगा मैं
पहले ही मेरे पक्ष में
नहीं है निर्धारित भविष्य अगर
तो वह तटस्थ है!
शत्रु है अगर वह तटस्थ है!
(वृद्ध की ओर बढ़ने लगता है।)
आज नहीं बच पायेगा
वह इन भूखे पंजों से
ठहरो! ठहरो!
ओ झूठे भविष्य
वंचक वृद्ध!

- पात्र अपने मनोभावों को जिन संवादों में व्यक्त करता है उनसे भी उसकी चारित्रिक विशिष्टता स्पष्ट होती है। जीवन की निस्सारता, अर्थहीनता, व्यर्थता के एहसास से उपजी निर्वेद भावना।

- "मैं दो पहियों के बीच लगा हुआ, एक छोटा-सा निरर्थक शोभा चक्र हूँ" जैसे संवाद में प्रयुक्त "निरर्थक शोभा चक्र" जैसे प्रयोग में एकदम स्पष्ट हो जाती है।

- किसी पात्र के विषय में नाटककार अन्य पात्रों से किस प्रकार की टिप्पणियाँ करवाता है उससे भी उस पात्र के चरित्र की संभावनाएँ स्पष्ट होती है। 'अंधायुग' नाटक के पाँचवे अंक में युयुत्सु के लिए महात्मा विदुर कहते हैं कि :

महलों में उसका अपमान क्या कम होता है
कि जाता है बाहर और अपमानित होने प्रजाओं से।

और इसके कुछ ही क्षणों के बाद युयुत्सु जब आत्महत्या कर लेता है तो कृपाचार्य के इस संवाद से :

युधिष्ठिर के राज्य में नियति है यह युयुत्सु की
जिसने लिया था पक्ष धर्म का

नियति की विडंबना भी स्पष्ट हो जाती है और युयुत्सु की अंतर्वेदना भी।

सामान्यतः नाटकों में नाटककार प्रत्यक्ष रूप से अपनी ओर से उस प्रकार की कोई टिप्पणी नहीं दे सकता जैसी टिप्पणियाँ देने की आजादी कथाकारों को होती है परंतु 'अंधायुग' नाटक की इस अर्थ में एक विशिष्टता यह है कि कथा-गायन के रूप में नाटककार ने चारित्रिक विशिष्टताओं के स्पष्ट संकेत देने के अवसर उत्पन्न कर लिए हैं। उदहारण के लिए, पाँचवें अंक के प्रारंभ में :

थे भीम बुद्धि से मंद प्रकृति से अभिमानी,
अर्जुन थे असमयवृद्ध, नकुल थे अज्ञानी,
सहदेव अर्द्धविकसित थे शैशव से अपने,
थे एक युधिष्ठिर जिनके चिंतित माथे पर थे लदे हुए
भावी विकृत युग के सपने।

कथागायन के इस अंश में "युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव पाँचों भाइयों के चरित्र की प्रमुख विशिष्टताएँ बता दी गयी हैं। परंतु इस प्रकार के प्रयोग हिदीं के अन्य नाटकों में नहीं के बराबर है, क्योंकि यह प्रचलित पद्धति नहीं है।

11.3 अंधायुग के प्रमुख पात्र

'अंधायुग' नाटक के चरित्रों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो स्पष्ट होता है कि यद्यपि नाटकों में चरित्रगत वैविध्य और विस्तार की संभावनाएँ कम रहती है तथापि 'अंधायुग' में चारित्रिक वैविध्य उल्लेखनीय है। सैनिक, प्रहरी, याचक, वृद्ध, व्याध आदि जैसे सामान्य या कहें कि सहज मानवीय पात्र भी आए हैं तो कृष्ण जैसे दिव्य पात्र भी, युधिष्ठिरादि पाण्डव और दुर्याधनादि कौरव जैसे राजसी पात्र भी हैं, कृपाचार्य, अश्वत्थामा जैसे ब्राह्मण पात्र हैं तो भीष्म-विदुर जैसी ज्ञानी महात्मा पात्र भी। अंधे धृतराष्ट्र जैसे राजा भी हैं तो दिव्य दृष्टिसंपन्न संजय भी। सामान्य एवं विशिष्ट वर्ग के इन दोनों ही प्रकार के पात्रों को देखने का एक दृष्टिकोण यह भी बनता है कि एक सिरे पर तो सैनिक और प्रहरी जैसे एकदम सामान्य पात्र हैं तो दूसरे सिरे पर कृष्ण जैसे दिव्य पात्र। इन दोनों ही छोरों के बीच में शेष अन्य पात्र हैं जो न तो पूर्णतः साधारण हैं और न पूर्णतः दिव्य। इनमें ब्रह्मास्त्रधारी अर्जुन और अश्वत्थामा जैसा विद्रोही पात्र भी है, दुर्योधन जैसा दुर्विनीत, क्रोधी पात्र भी है, अभिशाप और वरदान जैसी ऋण-धन शब्द शक्ति संपन्न गांधारी भी है, नीतिनिपुण विदुर भी है, अजेय भीष्म भी हैं, धर्मयुद्ध के नाम पर अधर्म युद्ध का विरोध करने वाले बलराम भी है, अधर्म का पक्ष छोड़कर धर्म का पक्ष लेने वाला कौरव

युयुत्सु भी है जो अंततः दिग्भ्रमित होकर आत्महत्या कर लेता है। इन्हें न तो सामान्य मानवीय पात्र कहा जाएगा और न पूर्णतः दिव्य पात्र। इन पात्रों की स्थिति इन दोनों की मध्यवर्तिनी है। चरित्र के धरातल पर पात्रों की पारस्परिक भिन्नता एकदम स्पष्ट है। एक ही माँ की संतान होने पर भी पाँचों पांडव भाई भी स्पष्टतः एक दूसरे से भिन्न है।

पात्र-सृष्टि के संबंध में दो बातें और उल्लेखनीय हैं : एक तो अतिविशिष्ट पात्र के रूप में प्रेतात्माओं को पात्रता प्रदान किया जाना और दूसरा है पशु प्रतीक पात्रों के रूप में कौए और उल्लू की अवतारणा। प्रेतात्मा पात्रों के अंतर्गत वृद्ध याचक और युयुत्सु की प्रेतात्मा का उल्लेख किया जाएगा। पशु प्रतीक के रूप में कौए और उल्लू के युद्ध के अंतराल दृश्य द्वारा अश्वत्थामा को उसी विधि से पाण्डवों को नष्ट करने के लिए अभिप्रेरित किया गया है ताकि नाटक की वस्तु योजना 'क्राइसिस' के चरम बिंदु की ओर सहज भाव से अग्रसर हो सके। एक आखिरी बात और है कि यद्यपि नाटक के सूच्य संवादों में उत्तरा, कुंती एवं अन्य स्त्रियों का उल्लेख किया गया है परंतु नाटक में प्रत्यक्ष स्त्री पात्र एकमात्र गांधारी है। अर्थात् नाटक में प्रत्यक्ष रूप से पंद्रह पुरुष और एक स्त्री पात्र की योजना की गयी है।

नाटक की वस्तु योजना के शिल्प में प्रहरी पात्रों की अपनी कुछ अलग विशेषताएँ और अनिवार्यताएँ हो सकती हैं लेकिन कई जगह पर ऐसा लगता है जैसे कथागायन के द्वारा नाटककार जिन बातों को नहीं कह सका है, ऐसी बातें प्रहरियों के माध्यम से कहला दी गयी है। ऐसी स्थिति में प्रहरी केवल सामान्य पात्र नहीं रह जाते, वे नाटककार की सोच के प्रतिनिधि भी बन जाते हैं। कभी उनकी भाषा निस्संग टीकाकार की भी हो जाती है। नाटक के प्रहरी इस लिहाज से भी प्रहरी भर नहीं लगते कि उनकी भाषा और सोच किसी कवि की तरह चिंतनशीलता एवं संवेदनशीलता लिए हुए है जो किसी सामान्य पात्र या कहें कि ऐसे साधारण प्रहरी की भाषा नहीं हो सकती, जिसमें न तो वैसी वैचारिक परिपक्वता होती है और न संवेदनाओं की, अनुभूतियों की, वह तीव्रता जो इन प्रहरी पात्रों में देखी जा सकती है। कथागायन में कोरस के द्वारा गाया जाता है :

अभिषेक युधिष्ठिर का संपन्न हुआ, फिर से पर पा न सकी
खोई शोभा कौरव नगरी ....

इस तरह "पाण्डव राज्य हुआ आरंभ पुण्यहत, अस्तव्यस्त।" उसी अस्तव्यस्तता और शोभाहीनता की बात हम प्रहरियों से भी सुनते हैं :

इससे तो पहले के ही शासक अच्छे थे
अंधे थे
...लेकिन शासन तो करते थे
ये तो संत ज्ञानी हैं
शासन करेंगे क्यों?
जानते नहीं है ये प्रकृति प्रजाओं की...
ज्ञान और मर्यादा
उनका क्या करे हम?
उनको क्या पीसेंगे?
या उनको खाएँगे?
या उनको ओढ़ेंगे?
या उन्हें बिछायेंगे?
हमको तो अन्न मिले
निश्चित आदेश मिले
एक सुदृढ़ नायक मिले
अंधे आदेश मिले
नाम उन्हें हम युद्ध दें या शांति दें।

प्रहरियों के बीच के संवाद और कथा गायन का मूल प्रयोजन एक है बल्कि क्या गायन में जो बातें बीज रूप में कही गयी है प्रहरियों ने उनकी स्पष्ट व्याख्या कर दी है, एक तटस्थ टीकाकार की तरह। युयुत्सु प्रहरी के हाथ से भाला छीनकर आत्महत्या कर लेता है तो प्रहरी टिप्पणी करता है :

अस्त्र रहेंगे तो
उपयोग में आएँगे ही
अब तक वे अस्त्र
दूसरों के लिए उठते थेः
अब वे अपने ही विरूद्ध काम आएँगे।

यह प्रहरी की बजाय किसी चिंतक और दार्शनिक की तटस्थ टिप्पणी अधिक प्रतीत होती है। इसीलिए हमारी शुरू से यही धारणा रही है कि प्रहरियों की योजना कथा-गायन का ही विस्तार है और ये नाटककार की भाषा में, नाटककार की बातें ही ज्यादा करते हैं।

दो प्रहरियों के अतिरिक्त एक वृद्ध याचक और एक गूंगा भिखारी है। इनकी भूमिका अत्यंत संक्षिप्त है और वस्तु योजना की आवश्यकता की ऊपज है। गूंगा भिखारी युयुत्सु का अपमान करता है क्योंकि युद्ध में वह युयुत्सु के कारण ही अपंग हुआ अथवा यह कि जिनकी ओर से वह लड़ता हुआ अपंग हुआ उस लंगड़े, गूंगे सैनिक की नजर में युयुत्सु को भी उन्हीं की ओर से लड़ना था परंतु उसने पारा बदल लिया। इसीलिए इस लंगडे लूले सैनिक का युयुत्सु पर अधिक आक्रोश है। युयुत्सु इस घृणा और अपमान को नहीं झेल पाता तो आत्महत्या कर लेता है। अतः गूंगा भिखारी युयुत्सु की आत्महत्या के कारक घटक के रूप में सामने आता है।

वृद्ध याचक भी ऐसा ही एक कारक घटक है। उससे हमारी पहली मुलाकात प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में होती है। उस समय वह भविष्यवक्ता के रूप में धृतराष्ट्र के सामने आता है और स्वीकार करता है कि नक्षत्रों-ग्रहों की उसकी समस्त गणना झूठी सिद्ध हुई है क्योंकि एक अत्यंत प्रभावशाली शक्ति ने ग्रहों की गति रोक ली थी जिसे लोग प्रभु, ईश्वर या कृष्ण के रूप में जानते हैं। दूसरे अंक में पुनः वह वृद्ध याचक (ज्योतिषी) आता है और वन में अकेले ग्लानि एवं पश्चातापग्रस्त विवश अश्वत्थामा से उसकी भेंट होती है। झूठी भविष्यवाणी का अभियोग लगाकर अश्वत्थामा उसकी हत्या कर देता है। चौथे अंक के पूर्व 'पंख, पहिए और पट्टियाँ' वाले अंतराल दृश्य में प्रेतलोक के वातावरण में प्रेतात्मा के रूप में वृद्धयाचक पुनः सामने आता है और अपनी प्रेत शक्ति से सभी पात्रों युयुत्सु, संजय, विदुर को बांधकर सामने लाता है। पात्र आते हैं और सम्मोहित भाव से अपनी वास्तविकता बतलाते हैं, पर बीच में ही कृष्ण का मोरपंख उसके सामने उड़ता हुआ आ गिरता है और याचक को अपनी प्रेतिशक्ति की अक्षमता विदित हो जाती है। उसे पता चल जाता है कि उसकी शक्ति से भी बड़ी शक्ति मौजूद है : कृष्ण और अश्वत्थामा। पुनः कृष्ण के आदेश से कृष्ण को लौकिक जीवन से मुक्ति दिलाने के लिए वृद्ध याचक नाटक के अंतिम दृश्य में व्याध बनकर आता है और अपने तीर से कृष्ण की हत्या कर देता है। कृष्ण मुक्त होते हैं याचक को भी मुक्ति मिलती है और अश्वत्थामा का भी सारा पाप कृष्ण अपने माथे ले लेते हैं। गूंगे सिपाही के मुकाबले याचक की भूमिका कुछ लंबी चलती है परंतु प्रासंगिक रूप से कुछ-कुछ क्षणों की उपस्थिति के द्वारा कुछ नयी घटनाओं की संभावना मात्र देकर वह विरत हो जाता है। संक्षिप्त भूमिकाओं वाले इन चार पात्रों के अतिरिक्त भी कुछ पात्र ऐसे शेष रह जाते हैं जिनकी नाटक में भूमिका है तो संक्षिप्त लेकिन जिसे कम महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। ऐसे पात्रों में बलराम, व्यास, भीम, दुर्योधन और युधिष्ठिर हैं जिनको प्रसंगवश यत्र-तत्र सामने लाया गया है परंतु जिनकी कोई सुदीर्घ भूमिका नहीं है। जैसे बलराम को ही लें। बलराम एक ओजस्वी पात्र की भूमिका में सामने आते हैं और भीम के अधर्मयुद्ध की भर्त्सना करते हैं, अधर्माचरण कर रहे पांडवों का साथ देने के लिए कृष्ण को भी 'मर्यादाहीन कूटबुद्धि' कहने से नहीं हिचकते। अपनी बेबाक बातों से वे कुछ ही संवादों में प्रभावित कर जाते हैं। महर्षि वेदव्यास का अवतरण ब्रह्मास्त्रों के प्रयोग को रोकने के लिए होता है और इस

प्रयास में वे ब्रह्मास्त्र के प्रयोग के दुष्परिणामों की संभावनाएँ स्पष्ट करते हैं। अर्जुन तो उनकी बात मान लेते हैं और ब्रह्मास्त्र लौटा देते हैं परंतु अश्वत्थामा यह कह कर ब्रह्मास्त्र लौटाने से इंकार कर देता है कि उसे पिता ने वापस लौटाना सिखलाया ही नहीं। दुर्योधन अपनी संक्षिप्त भूमिका में एक ऐसे व्यक्ति का आभास जगाता है जो अपने कुकर्मों का फल भोगते हुए दयनीय स्थिति को प्राप्त होता है पर मृत्यु के क्षण तक प्रतिहिंसा एवं प्रतिशोध की भावना से अपने को मुक्त नहीं कर पाया है। मरता हुआ दुर्योधन पांडव शिविर के विनाश का समाचार सुनकर एक विषैली मुसकान लिए चिरनिद्रा में निमग्न हो जाता है। भीम एक ऐसे असामान्य बली और वीर योद्धा के रूप में अपनी अल्पकालिक भूमिका निभाते हैं जो व्यक्तिगत राग-द्वेष 0के कारण, कृष्ण का संकेत पाकर दुर्योधन को अधर्म वार से धराशायी कर देता है। उसमें भी बल का अहंकार दुर्योधन की ही तरह है क्योंकि युयुत्सु की आत्महत्या के पीछे भीम के व्यंग्य बाणों की महती भूमिका है। युधिष्ठिर एक सज्जन और महान-आत्मा पुरुष के रूप में अपनी पहचान बनाते हैं जिनके मन में युद्ध के परिणामों से उपजी आत्मग्लानि है, युयुत्सु, गांधारी और धृतराष्ट्र जैसे लोगों के लिए सहानुभूति है, जो विकृत भविष्य की संभावना से आतंकित है, भीतर से अशांत, खिन्न और उदास हैं। इस प्रकार छोटी भूमिकाओं में रहने के बावजूद व्यास, युधिष्ठिर, दुर्योधन, बलराम, भीम इन सभी पात्रों की चारित्रिक विशिष्टताएँ एकदम स्पष्ट हैं।

संक्षिप्त भूमिकाओं वाले कुल नौ चरित्रों का संक्षिप्त परिचय यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि महाभारतकालीन पौराणिक कथा स्रोत से भारतीय मानस के पूर्व परिचित होने के कारण नाटककार को पात्रों का चरित्र स्थापित करने में अतिरिक्त कौशल या अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। सैनिक, प्रहरी, गूंगा, भिखारी, वृद्ध याचक जैसे पहले से अपरिचित पात्रों की योजना वस्तुतः नवीन पात्र सृष्टि की परिकल्पना न होकर नाट्यवस्तु के संप्रेषण के लिए अपनाये गये कौशल, एक प्रकार की नाट्य युक्ति, के रूप में की गयी है। यद्यपि इस क्रम में उनका अपना एक निजी चरित्र भी स्पष्ट हो गया है।

अब हम किंचित विस्तृत भूमिकाओं में आने वाले पात्रों का अवलोकन करके उनके चरित्र की मुख्य विशेषताओं को लक्षित करने का प्रयास करेंगे। इस क्रम में अश्वत्थामा और कृष्ण ये दो चरित्र विशेष प्रभावी बन पड़े हैं। बल्कि यह स्वीकार करना उचित होगा कि अश्वत्थामा 'अंधायुग' नाटक की एक उपलब्धि है।

जीवन यथार्थ के बीच पनपने वाला अश्वत्थामा का चरित्र अधिक वास्तविक और विश्वसनीय प्रतीत होता है। जितनी कटुता, आक्रोश, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध, क्रोध, व्यर्थताबोध और क्रूरता उसमें है वह अति की सीमा को स्पर्श करते हुए भी सहज लगती है। ऐसा नहीं कि वह कोई वायवीय चरित्र है। यह अलग बात है कि 'अंधायुग' के अश्वत्थामा ने मूल्यों, मर्यादाओं और नैतिकताओं के प्रायः स्वीकृत प्रतिमानों को जिस रूप में इस बात के लिए नकार दिया है कि उसके पिता की छल से हत्या की गई थी, उसका मेल अश्वत्थामा के परम्परा प्राप्त चरित्र से पूरी तरह नहीं बैठता। फिर भी यह सच है कि अपनी समस्त विकृतियों, कुरूपताओं और अंधत्व के बावजूद वह दर्शक/पाठक की सहानुभूति पाता है। इसका कारण यह है कि अश्वत्थामा का मूल चरित्र वह है नहीं जो दिखता है। उसकी क्रूरता, बर्बरता और जघन्य प्रतिशोध भावना के पीछे पिता की हत्या की उसकी प्रतिक्रिया है जो भीषण हो उठी है। अगर अर्द्धसत्य की तलवार से उसका सिर नहीं काटा जाता, अन्य वीरों की भाँति उन्हें भी वीरगति मिलती, तो संभवतः अश्वत्थामा की प्रतिहिंसा इतनी भयावह नहीं होती। केवल कौरव पक्ष का योद्धा होना उसकी पशुता का पर्याप्त कारण नहीं और न स्वामी भक्ति ही आदमी को आदमियत से इतनी दूर ले जाती है। कारण निश्चित रूप से व्यक्तिगत थे और कारण हमाने सामने स्पष्ट भी हैं। व्यक्तिगत राग द्वेष से परिचालित होकर विशेषकर जब उनके मूल में अन्याय और अनैतिकता हो, मनुष्य मर्यादाओं और मूल्यों का किस प्रकार अतिक्रमण कर जाता है, इसका उदहारण एक मात्र अश्वत्थामा ही नहीं है। ऐसी ही अन्याय-बोध जन्य प्रतिहिंसा से परिचालित होकर भीम ने दुर्योधन की जंघा तोड़ी थी परंतु वहाँ हमें दुर्योधन से इसलिए विशेष सहानुभूति नहीं होती क्योंकि वह मूलतः दुष्ट, भीषण स्वार्थी और अन्याय का पक्षधर था। वैसे ही भीम का दुःशासन

की छाती चीरकर लहू पीना भी उतना उद्वेलित नहीं करता क्योंकि दुःशासन के दुष्कर्मों के प्रति हमारी कोई सहानुभूति नहीं। इसलिए अपने अपमान, अन्याय और अपनी पत्नी के अपमान का बदला चुकाने के लिए उठे हुए भीम के हाथों को हमारी भीतरी स्वीकृति मिली होती है, भले ही बाहर से भीम का प्रतिशोध अमर्यादित प्रतीत होता हो। बुरा लगता है तो भीम द्वारा युयुत्सु का अपमान किया जाना और तब हमारी सहानुभूति युयुत्सु के प्रति हो जाती है और वहाँ भीम का अमर्यादित आचरण हमें अखरता है और तब दुःशासन और दुर्योधन की निमर्म बलि लेने वाला भीम अपने अमर्यादित अहंकार के कारण दर्शक/ पाठक की सहानुभूति के दायरे से बाहर हो जाता है। अश्वत्थामा जब तक पिता के प्रतिशोध के लिए तत्पर रहता है तब तक दर्शक उसकी हर हिंसा, क्रूरता, पशुता, बर्बरता को नज़रअंदाज करता चलता है परंतु जैसे ही वह ब्रह्मास्त्र को उत्तरा के गर्भ की ओर मोड़ता है उसकी विवशता के बावजूद उसके प्रति सारी सहानुभूति समाप्त हो जाती है और तब अर्जुन-कृष्ण द्वारा अश्वत्थामा को दिया गया कोई भी दंड बहुत नहीं अखरता है।

सेनापति बनने और पांडव शिविर में रात के अंधेरे में आग लगाकर सोए पांडव पक्ष के योद्धाओं की हत्या करने के बावजूद वह दुर्योधन से यह कहता है कि उसने अपने पिता का प्रतिशोध ले लिया है परंतु उसका अपने स्वामी का प्रतिशोध अभी तक अधूरा है और वह तब तक पूरा भी नहीं होगा जब तक उत्तरा का गर्भ स्थिर है। अतः उत्तरा का गर्भ नष्ट करके पांडव को निर्वंश कर देने की आकांक्षा उसकी पहले से थी, ब्रह्मास्त्र को व्यास के अनुरोध से केवल उत्तरा के गर्भ तक सीमित करना उसकी तात्कालिक आवश्यकता भर नहीं थी। लगभग योजनाबद्ध रीति से की गयी इस भ्रूण हत्या की चेष्टा के बाद अश्वत्थामा पतित हो जाता है। सोए पाण्डव शिविर को नष्ट किया जाना देखने वाला दर्शक/पाठक मन भ्रूणहत्या की कथित वीरता का समर्थन नहीं कर पाता।

इस बिंदु पर आकर अश्वत्थामा के प्रति केवल वितृष्णा, जुगुप्सा, घृणा और अस्वीकार ही शेष रह जाता है। तब कृष्ण हमें वास्तव में 'बड़े' दिखायी पड़ते हैं क्योंकि उन्होंने अश्वत्थामा के पापों का भार अपने ऊपर ले लिया है जो कोई दूसरा नहीं कर सकता था। यह काम केवल प्रभु के द्वारा ही संभव था। यह सामान्य आदमी के बूते की बात नही थी। अपनी इसी प्रकार की चारित्रिक विशिष्टताओं के कारण कृष्ण की छवि दिव्य पात्र की बनती है। जो अच्छे और बुरे के बीच, अंधकार और प्रकाश के बीच, पुण्य और पाप के बीच, सत् और असत् के बीच, समभाव से तटस्थ और निस्संग भाव से स्थिर रह सकता है। भले ही उसे कांटे निकालने के लिए कांटे का ही इस्तेमाल क्यों न करना पड़ा है। कृष्ण ऐसे दूसरे मुख्य पात्र हैं जो अश्वत्थामा की तरह प्रभावित करते हैं पंरतु जो प्रभाव अश्वत्थामा का पड़ता है, वही कृष्ण का नहीं पड़ता। कृष्ण का प्रभाव एकदम भिन्न प्रकृति का है। अलबत्ता प्रभाव की तीव्रता अश्वत्थामा के समतुल्य शायद उससे भी अधिक सिद्ध होती है।

'अंधायुग' के दूसरे मुख्य पात्र कृष्ण एक महाशक्ति के रूप में हमारे सामने आते हैं। नाटक शुरू होते ही इसका आभास हो जाता है जब वृद्ध याचक धृतराष्ट्र को बताता है कि :

आज मेरा विज्ञान सब मिथ्या ही सिद्ध हुआ
सहसा एक व्यक्ति
ऐसा आया जो सारे
नक्षत्रों की गति से भी ज्यादा शक्तिशाली था।

उस कृष्ण ने जब अनासक्त होकर इतिहास को चुनौती दी तो सारे नक्षत्रों की दिशा बदल गयी, ज्योतिषी की सारी भविष्यवाणियाँ मिथ्या हो गयी। इसी स्थल पर विदूर भी स्वीकार करते हैं कि :

उनकी गति में है
समाहित है सारे इतिहासों की,

नक्षत्रों की दैवी गति।

परंतु गांधारी इस बात से सहमत नहीं और कृष्ण को प्रभु मानने को तैयार नहीं होती। नाटक के आखिरी हिस्से में वह इसी अंदाज में कृष्ण को शाप भी देती है :

प्रभु हो या परात्पर हो
कुछ भी हो
प्रभु हो
सारा तुम्हारा अंश
इसी तरह पागल कुत्तों की तरह
एक दूसरे को परस्पर फाड़ खाएगा
तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षों बाद
किसी घने जंगल में
साधारण व्याघ्र के हाथों मारे जाओगे।
पर मारे जाओगे पशुओं की तरह

क्योंकि "यदि तुम चाहते तो रूक सकता था युद्ध यह" और तब दुर्योधन इस प्रकार कंकाल हुआ गांधारी के सामने न होता। इसलिए गांधारी की दृष्टि में "तुमने किया है प्रभुता का दुरूपयोग" क्योंकि तुमने समान पाप के लिए भीम को तो दंडित नहीं किया परंतु अश्वत्थामा को शापित कर दिया। इस पर कृष्ण गांधारी को कहते हैं :

अठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में
कोई नहीं केवल मैं ही मरा हूँ, करोड़ों बार
जितनी बार भी जो भी सैनिक धराशायी हुआ
कोई नहीं था,
वह मैं ही था,
गिरता था घायल होकर
जो रणभूमि में।
...अश्वत्थामा के अंगों से
रक्त, पीप, स्वेद बनकर बहूँगा
मैं ही युग युगांतर तक
जीवन हूँ मैं
तो मृत्यु भी तो मैं ही हूँ माँ!

कृष्ण द्वारा गांधारी का शाप स्वीकार किए जाते ही :

उस क्षण से ज्योति सितारों की पड़ गयी मंद,
युग-युग की संचित मर्यादा निष्प्राण हुई।

कृष्ण की गांधारी के शाप का आदर करना ही था, इसी में उनकी महानता थी, इसी में उनका ईश्वरत्व था। यहाँ वस्तुतः कृष्ण उन मानव मूल्यों के प्रतीक बन जाते हैं जो मनुष्य को मनुष्यत्व की गरिमा से आलोकित करता है। जब कृष्ण यह कहते हैं कि महाभारत के युद्ध में कोई और नहीं मैं ही बार-बार मरा और अश्वत्थामा के शरीर से रक्त, पीप और स्वेद बनकर मैं ही बहा, तब वे इन मूल्यों के ही मरने, उनके विघटन को बताते हैं। गांधारी के अभिशाप को स्वीकार करने के पीछे भाव यह है कि व्यक्ति को अपने दायित्व को स्वीकार करना चाहिए कि मानव मूल्यों के हनन की जिम्मेदारी किसी ओर की नहीं स्वयं उसकी है। कृष्ण उस मानव-भाव का भी प्रतीक है जो व्यक्ति को सचेत करता है और यह विवेक देता है कि क्या सही है और क्या गलत। मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का बोध बाहर से नहीं हो सकता, उसे अंतर्मन में ही उस सत्य को पहचानना होता है। इसीलिए नाटक के अंत में प्रभु से कहलाया गया है :

लेकिन शेष मेरा दायित्व लेंगे

बाकी सभी...
मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा
हर मानव-मन के उस वृत्त में
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर!
मर्यादा युक्त आचरण में
नित नूतन सृजन में
निर्भयता के
साहस के
ममता के
रस के
क्षण में
जीवित और सक्रिय हो ऊंठूँगा मैं बार-बार।

11.4 'अंधायुग' के चरित्रों की प्रतीकात्मकता

प्रारंभिक चर्चा के क्रम में हमने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि किसी नाटक में लिये गये पात्रों के माध्यम से नाटककार द्वारा मनुष्य के अंतर्जीवन की सूक्ष्मताओं और गहराइयों का संधान किया जाता है, किसी परिस्थिति विशेष की प्रतिक्रिया को उभारकर उस पात्र के चरित्र को परखने की कोशिश की जाती है। इसलिए नाटकों के पात्र अक्सर प्रतीकात्मक हो उठते है और अपने प्रकट अर्थ से भी बड़े अर्थ की व्यंजना करने लगते हैं। यह प्रतीकात्मकता सामान्यत मानवीय भावों, प्रवृत्तियों एवं मूल्यों आदि का प्रतिनिधित्व करती है, मानवीय विकृति या सुकृत को उजागर करती है एवं कहीं गहरे अंधकार और प्रकाश, सत् और असत् की सीमा रेखाएँ अंकित करती है। यह प्रतीकत्व अगर पात्रों की सहज-स्वाभाविक जीवन गति से आकार लेता है तो अधिक प्रभावशाली बनता है पर जैसे ही दर्शक/पाठक को यह एहसास होता है कि पात्रों के ऊपर प्रतीकत्व लाद दिया गया है, चिपका दिया गया है, तो, प्रतीकार्थों की संगति बिखर जाती है। इसलिए नाटककार के लिए यह ज़रूरी होता है कि वह पात्रों के ऊपर प्रतीकत्व को लादे नहीं, उसे स्वाभाविक जीवन यथार्थ के रूप में स्वयं उभरने दें।

'अंधायुग' के पात्रों के चरित्र की जो हल्की-फुल्की, आड़ी-सीधी रेखाएँ अब तक हमारे सामने आयी हैं उन्हें सामने रखकर उन पात्रों की प्रतीकात्मकता की ओर संकेत करना कठिन नही रह जाता। दोनों प्रहरी सामान्य जन के प्रतीक भी हैं और कभी-कभी नाटककार के जीवन दर्शन के प्रतीक भी हैं। गूंगा भिखारी युद्ध से उपजी जीवन की विसंगति का प्रतीक है। वृद्ध याचक मिथ्या होते जा रहे भविष्य का और प्रभु द्वारा निर्धारित नियति का प्रतीक है। धृतराष्ट्र संकीण ममत्व, विवेक शून्यता और मोहान्धता का प्रतीक है, तो, गांधारी आहत मातृत्व एवं तज्जन्य आक्रोश का। अश्वत्थामा प्रतिशोध, प्रतिहिंसा, अंध बर्बरता अथवा कहें कि मूल्यहीन शक्ति अर्थात् पशुत्व का प्रतीक बन उठा है तो दुर्योधन स्वार्थान्धता, कुटिलता, प्रतिहिंसा और विषैली वृत्तियों का प्रतीक है। धुरीहीन पहिए की तरह, युयुत्सु निराधार कुंठित और आत्महन्ता वृत्तियो का प्रतीक है। व्यास लोकमंगल की भावना के, शिव कल्याण कामना के, और कृष्ण सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान और मानवीय भविष्य के नियंता ईश्वरीय शक्ति के प्रतिनिधि अथवा प्रतिरूप है संजय निस्संग और तटस्थ जीवन दृष्टि के प्रतीक हैं, तो, विदुर लोकनीति एवं औचित्य के बलराम शक्ति और धर्म के संतुलन के प्रतीक हैं, तो, भीम व्यक्तिगत राग द्वेष से परिचालित शक्तिशाली वीर योद्धा लेकिन विवेकशून्य शक्ति के प्रतीक हैं। युधिष्ठिर श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों के प्रतिनिधि चरित्र हैं परंतु परिस्थितियों ने उन्हें चिंताग्रस्त कर दिग्विमूढ़ बना दिया है। अर्जुन शालीनता का प्रतीक है क्योंकि संहारक शक्ति संपन्न होकर भी, अश्वत्थामा की तरह प्रतिरोधात्मक शक्ति रखकर भी गुरूजनों का आदेश मानकर अपना ब्रह्मास्त्र लौटा लेता है।

अश्वत्थामा का चरित्र कई अंशों में पश्चिम के अस्तित्ववादी दर्शन को प्रतिनिधित्व सा देता लगता है। अस्तित्ववादी जीवन दर्शन के प्रसंग में 'अंधायुग' को टटोलने के प्रयास में यह स्पष्ट होता है कि उसके पात्र लगभग उन्हीं मानसिक स्थितियों में जी रहे हैं जो विश्वयुद्धों के दौरान यूरोप के नागरिकों की रही होगी। युद्धोत्तर संदर्भ तो समान है ही, मानसिकताएँ भी समान है। कभी-कभी तो ऐसा लगने लगता है कि धर्मवीर भारती ने अस्तित्ववादी 'मनुष्य' कल्पना को जैसे साकार-सा कर दिया है। अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने जिस मनुष्य की कल्पना की थी अश्वत्थामा तो मानो उसी का प्रतीक चरित्र बन गया है। अस्त्र-शस्त्र-समन्वित युद्धवादी, प्रतिशोध एवं प्रतिहिंसा से बर्बर पशु एवं अर्द्धविक्षिप्त सा बन गया अश्वत्थामा महाभारतकालीन नहीं रह जाता, कहीं गहरे धर्मवीर भारती के मस्तिष्क पर पड़े अस्तित्ववाद के प्रभाव की प्रतिकृति भी बन जाता है। अश्वत्थामा इस स्थिति में व्यक्ति से वर्ग हो गया है जिसने युद्ध और मूल्यों के विध्वंस को स्वयं झेला है और अकल्पनीय पीड़ा से संत्रस्त है। अस्तित्ववादी चिंतन ने विवेक और अंतरात्मा से शून्य हो गए जिस मनुष्य की कल्पना प्रस्तुत की है उसने मनुष्य को मूलतः बर्बर पशु माना और जीवन व्यवहार में उसकी पाशविक अचेतन वृत्तियों को ही सर्वाधिक नियामक घटक माना। आधुनिक युग में डार्विन के विकासवाद, कार्ल मार्क्स के साम्यवाद और फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धांत ने विश्व को सर्वाधिक प्रभावित किया है। अस्तित्ववाद और नात्सीवाद ने भी प्रथम विश्व युद्धोत्तर यूरोप पर गहरा असर डाला है। डार्विन के विकासवाद के अनुसार मनुष्य का विकास पशु से हुआ। इसी बात को ऐसे भी कहा जा सकता है कि मनुष्य जन्म से पशु होता है परंतु शिक्षा दीक्षादि बाह्य संस्कारों से वह सुसभ्य और संस्कृत आचरण करने लगता है। फिर भी, अगर ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जो उसके भीतर के दबे बर्बर पाशविक संस्कारों का विस्फोट संभव कर सकती है। अश्वत्थामा इस नाटक में जितना बर्बर और पशु बनकर उभरता है, वह वैसा था नहीं। एक सत्यवादी के झूठ से, युद्ध से विरत हो गए उसके पिता की हत्या हो गयी। इसका प्रतिशोध अश्वत्थामा को अंधा और विवेकहीन बना देता है। अधिकांश 'अस्तित्ववादी विचारक' भी अंतरात्मा की व्यर्थता की बात करते हैं।

अब नात्सीवाद के संदर्भ से देखें। 'नात्सीवाद' मनुष्य के यथार्थ को मान्यता नहीं देता, वह किसी भी देश की, व्यक्ति की, अथवा यथार्थ को पदाक्रांत कर सकता है आत्मसात नहीं। यही काम अश्वत्थामा करता नज़र आता है। अश्वत्थामा के लिए दूसरों के जीवन से खेलना कोई बड़ी बात नहीं, वह वृद्ध याचक की क्रोध के आवेश में हत्या कर देता है, रात के अंधेरे में सोए हुए पांडवों के शिविर में आग लगा देता है, सोए हुए लोगों की हत्या करता है और ऐसे ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करता है जिसके संचालन पर उसका नियंत्रण नहीं।

सार्त्र द्वारा प्रतिपादित अस्तित्ववाद की दृष्टि से देखें तो पाते हैं कि सार्त्र ने यह माना है कि मनुष्य परम स्वतंत्र है। अर्थात् मनुष्य की स्वतंत्र, निरपेक्ष और निजी सत्ता है, उसकी कोई मर्यादा नहीं, मूल्य और नैतिकता नहीं, कोई पूर्व निर्धारित स्वभाव नहीं, और उसका कोई प्रभु नहीं, वह अपना प्रभु स्वयं है। सार्त्र का ऐसा विचार पूर्णतः अनास्थावादी है जो अश्वत्थामा की तरह विध्वंसक हो सकता है, यद्यपि सार्त्र स्वयं इस खतरे के बारे में सजग है। सारी स्थापित मर्यादाओं, परंपराओं, नैतिकताओं और मूल्यों का संहार कर सकता है चाहे इसके लिए उसे बाहुबल का प्रयोग क्यों न करना पड़े। चाहे अस्त्र-शस्त्र ब्रह्मास्त्र चलाना पड़े। उसका कोई प्रभु नहीं वह स्वयं प्रभु की भूमिका में है, जिसे चाहा मारा, जिसे चाहा छोड़ा। अश्वत्थामा स्थापित मर्यादाओं के रूप में मूल्य को नहीं मानता, वह एक-एक कर सारे मूल्यों को तोड़ डालता है। अस्तित्ववादी दर्शन का ही एक और दृष्टिकोण फ्रांसीसी विचारक ग्रैब्रील मार्सल का भी है जिसकी धर्मवीर भारती ने 'मरणोन्मुख संस्कृति' के नाम से चर्चा की है। जब किसी भी संस्कृति के अपने आंतिरक मूल्य विघटित या समाप्त होकर नष्ट हो जाते हैं तो वह संस्कृति मरणोन्मुख मान ली जाती है। मानवीय संस्कृति को लगने वाली यह एक भयंकर और घातक बीमारी है जो नहीं देखती कि जिस संस्कृति पर उसका आक्रमण हो रहा है वह मूल्यवान है या मूल्यहीन। अश्वत्थामा ने जिस परम संहारक ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया यदि मानव मूल्यों के प्रतीक कृष्ण का हस्तक्षेप न होता तो सृष्टि का विनाश निश्चित था। तथापि सीमित प्रभाव के

परिणाम आज के विसंस्कृतिकरण या आज की अपसंस्कृति में नहीं दिखते ऐसी बात नहीं। लाक्षणिक समानता तो महाभारतकाल और आधुनिक काल में है ही।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नकारात्मक और व्यक्तिवादी सोच के अनेक आयामों का समाहार इस अश्वत्थामा नामक 'पात्र' में संभव हुआ है। आत्मघाती संस्कृति या अपसंस्कृति के एक रूप को युयुत्सु में भी देखा जा सकता है। कुंठा, संत्रास, निराशा, व्यर्थता आदि जैसे भावबोध युधिष्ठिर में भी देखे जा सकते हैं और युधिष्ठिर एवं युयुत्सु को एब्सर्ड चिंतन के प्रतीक के रूप में भी व्याख्यायित किया जा सकता है।

11.5 'अंधायुग' में चरित्रों का मूल्यगत संघर्ष

इसके पहले कि हम 'अंधायुग' नाटक के चरित्रों के मूल्यगत संघर्ष की पड़ताल करें, मूल्य विषयक अपनी समझ को स्पष्ट करना ज़रूरी है। इन पात्रों की मूल्यगत निष्ठाओं और मूल्यों के आंतरिक संघर्ष की सही पहचान तभी हो सकेगी। मनु ने उपदेश दिया था 'मनुर्भव' अर्थात् मनुष्य बनो। मनुष्य जन्म से मनुष्य नहीं बनता, मनुष्य बनता है मनुष्यता से, मानवीय मूल्यों को जानने, समझने और अपनाने से। इसलिए मनुष्य को जीना चाहिए तो उन मूल्यों के लिए, उन आदर्शों के लिए, जिनसे उसके मनुष्य होने की शर्त पूरी होती है। महाभारत काल से ही मानवीय मूल्यों का ह्रास होने लगा और मानव जीवन क्रमशः मूल्यहीन, आदर्शविहीन होता चला गया। आज स्थिति यह हो गयी है कि अगर कोई मूल्यों के लिए, आदर्शों के लिए जीना चाहता है तो मूल्य विरोधी शक्तियाँ उससे जीवन ही छीन लेती हैं। हत्या केवल मनुष्य नामधारी जीवों की ही नहीं हो रही है, मूल्यों की भी हो रही है। रोज़-रोज़ ना जाने कितने ईसा मसीह, सुकरात, मंसूर, गांधी, मार्टिन लूथर मानवीय मूल्यों के लिए अपनी बलि दे रहे हैं। इसी मूल्यहीनता के दौर को लक्षित कर पश्चिम में अनेक अनास्थावादी जीवन दर्शन प्रचारित हुए। उनमें से कुछ की चर्चा पहले की जा चुकी है। इस विसंगति की जड़ में जो बात है वह बहुत छोटी भी है इसलिए उधर लोगों का ध्यान या तो जा नहीं पाता है या कम जाता है। दरअसल हुआ यह है कि हमने अपने 'समकालीन यथार्थ' को ही पूरा सच मान कर उसी के आधार पर अपने जीवन मूल्य बना लिए हैं और यह भूल गए हैं कि हमारे सामने जो है वह तो आधा सच भी नहीं है और जो हमारे सामने है मूल्य उसका नहीं है बल्कि जो होना चाहिए, जो हमारे स्थापित मानवीय आदर्श हैं, असली और पूर्ण मूल्य वही हैं।

हमारा समकालीन यथार्थ वस्तुतः सापेक्ष यथार्थ है, क्योंकि वह देश, काल, परिस्थिति और व्यक्ति भेद से बदल जाता है। सापेक्ष मूल्य से भी बड़े मूल्य वे हैं जो कुछ सीमा तक निरपेक्ष और शाश्वत कहे जा सकते हैं। ये मूल्य हमारे वे आदर्श हैं जिनको अपनाकर हम मनुष्य कहलाने का गौरव प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन आज हम जीवन की अत्यधिक बढ़ गयी जटिलताओं के कारण अपने समकालीन यथार्थ के प्रभाव से उबर नहीं पाते और उसी को सब कुछ मान बैठते हैं जबकि मानव मूल्य अपनी स्वीकृति, परिचय और मानवीय हितों के लिए अपने उपयोग की प्रतीक्षा ही करते रह जाते हैं। वास्तविक मूल्य तो वही हैं जो मनुष्य के जीवन को निरंतर पूर्णता, उत्कर्षता और सार्थकता की ओर ले जाता है। सापेक्षिक मूल्यों का समकालीन यथार्थ के रूप में बदल जाना मूल्यहीनता नहीं है। सात अंधों ने मिलकर एक हाथी देखा था, किसने कितना देखा अगर आप इसे समझ सकते हैं तो निश्चय ही आप यह भी समझ सकते हैं वास्तविक मूल्य क्या है और यह भी कि हमारा आदर्श क्या होना चाहिए।

अपनी और अपनी आगामी पीढ़ी को मूल्यों का वही संदेश कृष्ण के माध्यम से 'अंधायुग' में दिया गया है, जिसके विषय में वृद्ध याचक बताता है कि जब भी कोई अनासक्त मनुष्य इतिहास को चुनौती देता है तो ग्रहों और नक्षत्रों की गति रूक या बदल जाती है। कृष्ण वैसे ही अनासक्त पुरुष थे और उन्होंने उसी अनासक्ति का परिचय भी दिया। पांडवों का पक्ष उन्होंने इसलिए लिया कि वे कौरवों के अत्याचार के शिकार थे। महाभारत का युद्ध जीतने के बाद

युधिष्ठिर अपनी विजय पर शर्मिन्दा थे और और भीम कौरवों की तरह अहंकार के मद-में चूर थे। इन सब के प्रति वे उतने ही अनासक्त रहे जितने इस विषय में कि निरीह एवं सोए हुए पांडवों के शिविर में रक्तपात करने वाला, भ्रूण और ब्रह्मास्त्र चलाने वाला अश्वत्थामा शत्रुपक्ष का है, अथवा वह वृद्ध याचक जिसने सदैव कभी ज्योतिष के द्वारा, तो कभी प्रेतशक्ति के द्वारा उनका रास्ता काटने की कोशिश की, अथवा यह युयुत्सु कि जिसने आजीवन कृष्ण के प्रति अपनी अटूट निष्ठा का परिचय तो दिया परंतु आखिरी घड़ी में टूट गया और कृष्ण पर अपनी अनास्था घोषित कर दी। इन सभी बातों को भूलकर कृष्ण उसी अपनत्व से प्रेतयोनि से याचक और युयुत्सु को मोक्ष दिलाते हैं, उसी आत्मीयता से अश्वत्थामा की सारी पीड़ाएँ हर लेते हैं। जिस गांधारी ने उन्हें पशु जैसी मृत्यु का शाप दिया उसे उन्होंने सार्वजनिक रूप से अपनी माता घोषित कर दिया। व्यक्तिगत राग द्वेष से बिना प्रभावित हुए, कृष्ण, निष्काम कर्म करने का एक उदहारण स्वयं भी हैं। इसके विपरीत महाभारत के प्रायः सभी पात्र व्यक्तिगत राग-द्वेष से परिचालित हैं, कृष्ण जैसी अनासक्ति उनमें नहीं। उन्होंने अपने जीवन वास्तव को, अपने समय के अनुभव को ही, अंतिम सत्य मान लिया। उनमें कृष्ण जैसी बृहत्तर जीवन मूल्य की अवधारणा नहीं थी। वह कृष्ण का जीवन मूल्य ही था जिसने व्यापक मानव जीवन के वृहत्तर भविष्य की सुरक्षा उत्तरा के गर्भ की रक्षा करके की थी। एक से एक पुरुषार्थी और शूरवीर खड़े-खड़े मुँह ताकते रहे कि उस पांडव वंश के आखिरी बीज को कैसे बचाया जाय जिसे धर्म का पक्ष मानकर स्वयं कृष्ण ने अपना समर्थन दिया था। पांडवों का निर्वंश हो जाना एक प्रकार से मानवता की समाप्ति थी क्योंकि पाण्डवों की लड़ाई एक मूल्य की रक्षा के लिए लड़ी गयी थी। 'महाभारत' के युद्ध को पशु मूल्यों के विरुद्ध मानव मूल्यों की स्थापना का युद्ध माना जाता है। युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य से एक मूल्य खण्डित हुआ इससे पाण्डवों का और खासकर युधिष्ठिर का अपना व्यक्तित्व विखण्डित हुआ, परंतु इससे मूल संघर्ष की चेतना प्रभावित नहीं होती। इससे युधिष्ठिर का अपना व्यक्ति मूल्य प्रभावित हुआ। अन्याय, शोषण और अत्याचार के विरोध का शाश्वत संघर्ष प्रभावित कहा जाएगा। अधर्मी दुर्योधन को मारने के लिए भीम द्वारा अधर्म का दाँव चलना, उद्देश्य की महत्ता की रक्षा की दृष्टि से उतना अनुचित नहीं, जितना अनुचित भीम के भीतर का वह व्यक्तिगत राग-द्वेष था जिसने उसके एकमात्र अधर्मी प्रहार में सारी पाशव शक्ति भर दी थी।

'अंधायुग' में वस्तुतः तीन प्रकार की मूल्य दृष्टियाँ दिखायी देती हैं, दैवी मूल्य, मानवीय मूल्य और पाशविक मूल्य। मनुष्य के विकास की भी प्रायः यही अवस्थाएँ हैं। जन्म से पशु, शिक्षा, दीक्षा एवं संस्कारादि से मनुष्य और उच्चतर कर्मों से देवतत्व। कृष्ण दैवी मूल्यों के प्रतीक हैं। अश्वत्थामा, दुर्योधन आदि पशु मूल्यों के। शेष पात्र मानवीय मूल्यों के प्रतीक हैं जो अपने उच्चतर कर्मों से देवत्व की ओर अग्रसर तो हैं लेकिन युयुत्सु जैसे पात्रों की आस्था अंत में टूट जाती है। युधिष्ठिर विजय की कीमत आंकने के बाद हततेज हो जाते हैं। भीम अपनी हल्की-फुल्की उपलब्धियों से ही गर्वित होकर चरित्र के स्तर पर गिरने लगते हैं। संजय, विदुर, व्यासादि पात्र अपने विश्वास, निष्ठा और उच्चतर कार्यों के कारण देवोन्मुख हैं। अश्वत्थामा और दुर्योधन जैसे पात्र व्यक्तिगत रागद्वेष से परिचालित हैं, अतएव शिक्षा-दीक्षा और संस्कार से अप्रभावित उनका मन अंततः पशु मूल्यों की ओर ही अग्रसर हो जाता है। कृष्ण के अलावा केवल व्यास ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिनके लिए व्यक्तिगत मूल्यों से भी महत्वपूर्ण समष्टिगत मानव मूल्य हैं। जिनकी चिंता मानव भविष्य है। व्यास, युद्ध के एकदम सतही स्तर पर हस्तक्षेप नहीं करते। वे तब सामने आते हैं जब समस्त सृष्टि के विनाश की संभावना प्रबल हो उठती है। कौरव और पाण्डव जब तक कौरव-पाण्डव के रूप में लड़ते रहे, एक धरातल पर यह उनके व्यक्तिगत मूल्यों का संघर्ष था समकालीन यथार्थ का संघर्ष था, सापेक्षिक मूल्यों का संघर्ष था। लेकिन जब संपूर्ण मानव जाति के विनाश का प्रश्न उठता है तो मामला व्यक्तिगत नहीं रह जाता। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'अंधायुग' में व्यक्तिगत चरित्र और वस्तुविधान के स्तर पर निरपेक्ष एवं सापेक्ष मूल्यों का संघर्ष ही उभरकर सामने आता है।

जैसा कि हमने पीछे संकेत कर दिया है कि मानवीय नियति या कहें कि मानव जीवन की विंडबना यही है कि हम अपने छोटे-छोटे जीवन सत्यों को ही मानव मूल्य समझ बैठते हैं और

उसके लिए लड़ने में अपना पुरुषार्थ, लगा देते हैं। जबकि एक ही स्थिति का अनुभव अलग-अलग व्यक्ति को भिन्न प्रकार के सत्य का साक्षात्कार करा सकता है और इस प्रकार एक ही सत्य के कई रूप हो जाते हैं। ये भिन्न रूप व्यक्ति सापेक्ष हैं। एक का सच दूसरे से मिलता नहीं। यही आज सभी फसादों की जड़ है और इसी नासमझी ने महाभारत काल में भी बड़े-बड़े फसाद खड़े किए। युद्ध में विजय चाहे जिस तरीके से प्राप्त हो, महत्वपूर्ण वस्तु बन गयी है। युद्ध के साधन और उनकी शुद्धि के सिद्धांत का ध्यान नहीं रखा गया। पहले एक ने अधर्म किया। फिर दूसरे ने अधर्म से बदला लेना अपना अधिकार माना। इसी तरह धर्मयुद्ध तो धीरे-धीरे पीछे छूटता गया और अधर्म युद्ध ही जीवन-मूल्य का स्थान लेता चला गया। मूल्यों की गिरावट का मूल कारण रहा व्यक्तिगत स्वार्थजन्य राग द्वेष की लिप्तता। कृष्ण की तरह निर्लिप्त, निस्संग दृष्टि से सभी जी नहीं सकते थे। अपने छोटे-छोटे सच को सर्वस्व मान कर हर कोई उसकी रक्षा में जुट गया और सबसे मूल्यवान वस्तु 'मानवता' अरक्षित-उपेक्षित रह गयी। छोटे-छोटे सापेक्षिक मूल्य प्रभावी हो गए और शाश्वत मूल्यों को हर किसी ने भुला दिया। यही महाभारत का कारण था और युद्धात्तर विनाश का बीज भी। आज भी हम मानव मूल्यों के इस संघर्ष को अपने आस-पास और विश्व-पटल पर देख सकते हैं।

11.6 सारांश

'अंधयुग' से संबंधित आपने इस दूसरी इकाई का भी अध्ययन कर लिया है। इस इकाई में नाटक की चरित्र दृष्टि पर विचार किया गया है। नाटक में चरित्र-चित्रण के लिए नाटककार ने कई विधियाँ अपनाई हैं। पात्रों के क्रियाकलाप, संवाद, उनके माध्यम से व्यक्त होने वाली बातें आदि। इस नाटक में इन सभी नाटकीय विधियों का प्रयोग किया गया है। नाटक में चरित्र-चित्रण का प्रभावशाली होना ज़रूरी है। इसके बिना नाटक का प्रभाव कमजोर होगा। यद्यपि इसमें पात्रों की संख्या ज्यादा है, लेकिन सभी पात्र चाहे नाटक में उनकी भूमिका कितनी ही क्यों न हो, उसका चित्रण अत्यंत प्रभावशाली रूप में किया गया है।

'अंधायुग' में दो तरह के पात्र हैं। एक, जिन्हें महाभारत से लिया गया है। दो, जो नाटककार की अपनी कल्पना है। प्रहरी, वृद्ध याचक, गूँगा भिखारी ऐसे ही पात्र हैं जबकि शेष सभी पात्र महाभारत के हैं। यहाँ कथा की आवश्यकता के अनुसार उन्हें प्रस्तुत किया गया है। अश्वत्थामा, कृष्ण, युयुत्सु, गांधारी की इसमें केंद्रीय भूमिका है जबकि शेष पात्रों की भूमिका कम होते हुए भी नाटक में उनका आगमन अत्यंत ज़रूरी और प्रभावकारी है। नाटककार ने इन पात्रों का चरित्र-चित्रण करते हुए इस बात का ध्यान रखा है कि वे मनुष्य की किन प्रवृत्तियों और मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस तरह प्रत्येक पात्र प्रतीक भी हैं।

पात्रों की प्रतीकात्मकता पर तत्कालीन जीवन दृष्टि और दर्शन का असर देखा जा सकता है। इस संदर्भ में पात्रों पर अस्तित्ववादी प्रभाव पर भी इकाई में विचार किया गया है। अश्वत्थामा, युयुत्सु ऐसे ही पात्र हैं। कृष्ण जिन्हें भारत की पौराणिक परंपरा में ईश्वर माना गया है, वह यहाँ मानव के उन मूल्यों के प्रतीक बनकर उपस्थित हैं जिनसे मनुष्य मनुष्य कहलाने का अधिकारी बनता है। 'महाभारत' में कौरवों और पांडवों के बीच के संघर्ष में मानव मूल्य भी दांव पर लगे थे। आज भी मानव मूल्यों का ही संघर्ष है। सत्य क्या है, नैतिकता क्या है, हिंसा और प्रतिहिंसा, युद्ध और धर्म ये सब ऐसे प्रश्न हैं, जो महाभारत काल में जितने प्रासंगिक थे, उससे कम प्रासंगिक आज नहीं है। 'अंधायुग' की चरित्र-सृष्टि का अध्ययन इकाई में इन्हीं संदर्भों में किया गया है।

अभ्यास

1. 'अंधायुग' में प्रमुख पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
2. अश्वत्थामा किन मानव-प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है, 'अंधायुग' में वर्णित चरित्र को ध्यान में रखकर स्पष्ट कीजिए।
3. 'अंधायुग' के चरित्रों की प्रतीकात्मकता का उल्लेख करते हुए नाटक में वर्णित मूल्य संघर्ष की प्रासंगिकता बताइए।

इकाई 12 'अंधायुग' का नाट्य शिल्प

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 काव्य नाटक के रूप में 'अंधायुग'
12.3 'अंधायुग' की भाषा और संवाद योजना
12.4 'अंधायुग' में रंगशिल्पगत प्रयोग
12.5 'अंधायुग' की रंग प्रस्तुति
12.6 सारांश

12.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम-4 से संबंधित इस बारहवीं इकाई में आप धर्मवीर भारती के काव्य नाटक 'अंधायुग' के बारे में अध्ययन करेंगे। इस इकाई का संबंध 'अंधायुग' के नाट्य शिल्प से है। यानी एक 'नाटक' के रूप में 'अंधायुग' का मूल्यांकन करना।

इस इकाई में सबसे पहले इस बात पर विचार किया गया है कि 'अंधायुग' को काव्य नाटक या गीति नाट्य क्यों कहा जाता है। इसका तात्पर्य क्या है और इस नाटक के संदर्भ में इन शब्दों के प्रयोग का औचित्य क्या है। इस तरह आप काव्य नाटक के रूप में 'अंधायुग' का महत्व समझ सकेंगे।

किसी भी नाटक के बारे में अध्ययन तब तक पूरा नहीं माना जा सकता जब तक कि हम यह न समझें कि उसमें प्रयुक्त भाषा और संवाद नाटक को सफल बनाने में किस हद तक कारगर रहे हैं। 'अंधायुग' काव्य नाटक होने के कारण इसकी भाषा में काव्यात्मकता होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार संवाद भी गद्यात्मक नहीं वरन् पद्यात्मक है। इस प्रकार यह कृति एक साथ काव्य और नाटक दोनों है। संवादों पर विचार करते हुए इकाई में इन बातों का ध्यान रखा गया है। इकाई का अध्ययन करने से आपको नाटक की भाषा और संवाद योजना की विशेषताओं को समझने में मदद मिलेगी।

इकाई में 'अंधायुग' के शिल्पगत प्रयोगों पर भी विचार किया गया है। 'अंधायुग' में अंकों और दृश्यों का विभाजन, स्थितियों और क्रियाओं का आयोजन और इन सबके परिणामस्वरूप नाटक की मंचीय प्रस्तुति पर इसका असर, इसके बारे में भी आप इकाई में अध्ययन करेंगे।

इकाई के अंत में, 'अंधायुग' की विभिन्न रंग प्रस्तुतियों का उल्लेख करते हुए उनमें किए गए नये प्रयोगों को बारे में बताया गया है। इस जानकारी से आप यह समझ सकेंगे कि 'अंधायुग' की रंग प्रस्तुति का महत्व क्या है और इसमें किस तरह की रंग संभावनाएँ निहित है।

12.1 प्रस्तावना

एम.ए. हिंदी पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के इस दूसरे खंड की अंतिम इकाई में आप 'अंधायुग' के नाट्य शिल्प का अध्ययन करेंगे। इससे पूर्व इस खंड में ही आप 'अंधायुग' से संबंधित दो इकाइयाँ और पढ़ चुके हैं। इससे पहले की इकाई में आपने 'अंधायुग' में चरित्र सृष्टि का अध्ययन किया था। आपने नाटक के विभिन्न पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के बारे में जानकारी प्राप्त की थी। आपने यह भी पढ़ा था कि इन पात्रों में निहित

प्रतीकात्मकता क्यों और किस अर्थ में प्रयुक्त हुई है। चरित्र सृष्टि पर विचार करते हुए ही उक्त इकाई में विभिन्न पात्रों के बीच चलने वाले मूल्य संघर्ष पर भी विचार किया गया था।

'अंधायुग' से संबंधित इस अंतिम इकाई में 'अंधायुग' के नाट्य शिल्प पर विचार किया गया है। नाट्य शिल्प के अंतर्गत सबसे पहले काव्य नाटक का प्रश्न उठाया गया है। 'अंधायुग' काव्य नाटक है और इसीलिए वह अपनी संरचना में अन्य नाटकों से भिन्न है। इस भिन्नता को समझ कर ही हम 'अंधायुग' की विशिष्टता को पहचान सकते हैं। इसी संदर्भ में नाटक की भाषागत विशिष्टता को भी पहचान सकते हैं। इसी संदर्भ में नाटक की भाषा और संवाद योजना का प्रश्न भी उपस्थित होता है। अभी तक यह समझा जाता रहा है कि नाटक के संवाद गद्यात्मक और यथार्थपरक यानी बोलचाल के अनुरूप होने चाहिए। लेकिन नाटकों की लंबी परंपरा में पद्यात्मक संवादों की भी सुदृढ़ परंपरा है। 'अंधायुग' के संवाद जो काव्यात्मक हैं, नाटक के यथार्थवादी प्रभाव को क्षति पहुँचाते हैं या उसकी रचनात्मकता को समृद्ध करते हैं, इस पर भी विचार करने की आवश्यकता है।

नाटक की सार्थकता और सफलता का निर्णय अंततः उसके मंचन से होता है। इस दृष्टि से 'अंधायुग' में किए गए रंगशिल्पगत प्रयोगों को जानने समझने की आवश्यकता है। 'अंधायुग' का रंगशिल्प इससे पूर्व पढ़े गए नाटकों से भिन्न है। इकाई को पढ़ने से आपको इस भिन्नता को समझने में मदद मिलेगी। 'अंधायुग' की रंग प्रस्तुतियों के संदर्भ में भी नाट्य शिल्प को समझा जा सकता है। इकाई को पढ़ते हुए आप इन विभिन्न पहलुओं पर स्वयं भी विचार करें।

12.2 काव्य नाटक के रूप में 'अंधायुग'

'अंधायुग' के संरचनात्मक स्वरूप को लेकर साहित्य के विद्वानों के बीच कुछ मतभेद है और काव्य नाटक की जगह नाट्यकाव्य, गीतिनाट्य, पद्य नाटक आदि नाम भी सुझाए गए हैं। 'अंधायुग' के रचयिता धर्मवीर भारती ने अपनी रचना की भूमिका में नाटक के रचनात्मक स्वरूप के विषय में पाँच बातें कही :

1. सर्वप्रथम इन्होंने इसे 'दृश्यकाव्य' कहा "इस दृश्यकाव्य में जिन समस्याओं को उठाया गया..."
2. आगे उन्होंने इसे छन्द बदलने वाला लंबा 'नाटक' बताया :"इस लंबे नाटक में छंद बदलते रहना आवश्यक प्रतीत हुआ।" यहाँ 'दृश्यकाव्य' की जगह 'नाटक' शब्द ने ले ली।
3. पुनः वे इसे गीतिनाट्य बताते हैं :"वह न केवल इन गीतिनाट्यों वरन् समस्त नयी कविता...."
4. आगे वे इसे 'काव्य' कहते हैं : "मूलतः यह काव्य रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया..."
5. अंत में वे इसे लोकनाट्य भी बताते हैं, "मंच विधान को थोड़ा बदलकर यह खुले मंच वाले लोकनाट्य में भी परिवर्तित किया जा सकता है।"

इन कारणों से इस नाटक के रचनात्मक स्वरूप और 'काव्य नाटक' नामकरण को लेकर कुछ भ्रम सा फैला हुआ है जिसे स्पष्ट किए जाने की आवश्यकता है।

हमारे यहाँ प्राचीनकाल से ही नाटक को 'दृश्यकाव्य' कहने की परंपरा रही है। इसके बाद उसके रूप भेद की बात होती है। संस्कृत में जो प्रमुख नाट्य रूप प्रचलित थे उन्हें दशरूपक और उपरूपक प्रकार में और जो नये नाट्य रूप बन रहे थे उन्हें 'अन्य रूपकानि' अथवा 'गेय रूपकानि' के अंतर्गत रखा गया। अतः गेय रूपक या गीतिनाट्य संस्कृत साहित्य से चली आती

परंपरा है। काव्य नाटक कहने से आज भी ऐसा बोध तो होता नहीं कि काव्य होने के कारण यह श्रव्य विधा की रचना है। सभी समझते हैं कि 'काव्यनाटक' कहे जाने पर भी आशय 'दृश्यकाव्य' ही है, अर्थात् ऐसा काव्य रूप जिसे नाटक की तरह खेला जा सकता है।

अति प्राचीनकाल से विश्व के प्रायः सभी देशों में नाटक काव्य ही रहा और गीत-संगीत, नृत्य एवं काव्यत्व से वह कभी असंपृक्त नहीं हुआ। संस्कृत नाटक हो, यूनानी नाटक या अंग्रेज़ी नाटक, सभी के पुराने रूपों में ये सारी विशेषताएँ मौजूद हैं। काफी हद तक ऐसे सभी नाटक पद्यबद्ध रहे। प्राचीन यूनानी नाटक काव्यत्व प्रधान और छंदबद्ध थे। मध्ययुग तक यूरोप में यही परंपरा रही। दरअसल इब्सन, बर्नार्डशा जैसे पश्चिमी नाटककारों द्वारा आधुनिक काल में इस बात पर अधिक जोर दिया जाने लगा कि यदि नाटक जीवन की अनुकृति है तो यह जरूरी है कि नाटक की भाषा गद्य होनी चाहिए क्योंकि यथार्थ जीवन की हमारी भाषा गद्य है। और यह भी जरूरी है कि जीवन की अनुकृति के रूप में नाटकों में वास्तविक जीवन यथार्थ का चित्रण होना चाहिए। इसे यथार्थवाद कहा गया। इब्सन और बर्नार्ड शा की तर्ज़ पर हिंदी में लक्ष्मीनारायण मिश्र ने कई समस्या नाटक लिखे जो विशुद्ध यथार्थवादी शैली के नाटक थे। यथार्थवाद ने पद्य को नाटक के बाहर खदेड़ दिया क्योंकि छंदात्मकता नाटक के लिए अस्वाभाविक मान ली गयी थी। पश्चिम में ही बाद में इसकी प्रतिक्रिया भी हुई और कहा गया कि नाटक लिखना और खेलना, पत्रकारिता या फोटोग्राफी नहीं है जिसमें कि ज्यों का त्यों जीवन यथार्थ प्रस्तुत कर दिया जाय। काव्य नाटक की महत्ता फिर से स्थापित हुई और टी.एस. इलिएट के "मर्डर इन द केथेड्रल" ने इंगलैंड में काफी सराहना पाई। यही वह बिंदु है जहाँ से 'काव्यनाटक', 'नाट्य काव्य' या 'गीति नाट्य', 'पद्य नाट्य' जैसी धारणाएँ सामने आईं। यानी जैसे अन्य रचना विधाओं में एक स्थापित परंपरा की प्रतिक्रिया में नयी परंपरा बनी वैसे ही नाटक के क्षेत्र में भी गीति नाट्य का नया प्रयोग सामने आया।

लेकिन इस नाट्य रूप को यथार्थवाद की प्रतिक्रिया समझना भूल होगी। 'अंधायुग' को पढ़ने से आप समझ गए होंगे कि गीति नाट्य होते हुए भी यह यथार्थवादी नाटक ही है। कुछ आलोचक इस नाट्य रूप को भी पश्चिम की नकल के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह सही नहीं है। पश्चिम का प्रभाव तो सभी विधाओं पर था, लेकिन 'अंधायुग' जैसी श्रेष्ठ रचनाएँ सिर्फ अनुकरण द्वारा नहीं रची जा सकती। इसके लिए जैसा कि हम पूर्व की इकाइयों में उल्लेख कर चुके हैं, धर्मवीर भारती की उस अंतःप्रेरणा को समझना होगा, जिसने कृति की रचना को संभव बनाया। 'अंधायुग' के संदर्भ में अस्तित्ववाद और ज्यां पाल सार्त्र, डी.एच. लारेंस आदि के प्रभाव को भी इसी संदर्भ में देखना चाहिए।

जब हम काव्यनाटक कहते हैं तो काव्य और नाटक को अलग-अलग करके नहीं देखते। न हम ऐसा सोच रहे होते हैं कि काव्य आत्मा है और नाटक शरीर या कि काव्य साधन है और नाटक साध्य। इसमें किसी एक की प्रधानता और दूसरे की गौणता का प्रश्न ही नहीं उठता। जिन परिस्थितियों की प्रेरणा से एक कविता लिखी जाती है उन्हीं परिस्थितियों की प्रेरणा से नाटक भी। काव्य और नाटक दोनों का उत्स या मूल स्रोत एक ही है। काव्यत्व और दृश्यत्व का जब मिलन होता है तभी काव्यनाटक का जन्म होता है। जो लोग 'अंधायुग' में या किसी भी अन्य काव्यनाटक में अच्छी कविता खोजने की कोशिश करेंगे या जो उसमें अच्छा नाटक खोजना चाहेंगे, इन दोनों ही प्रवृत्ति के आलोचकों को कोई भी काव्यनाटक संतुष्ट नहीं कर पायेगा क्योंकि काव्य नाटक न तो पूरी तरह काव्य है और न पूरी तरह से नाटक है, दोनों का एक ऐसा मिला-जुला रूप है कि जब शब्दों की ताकत चुकने लगे तो नाटकीयता उसे सहारा दे और जो बातें दृश्य बनाकर प्रस्तुत नहीं की जा सके वैसी सघन अनुभूतियों के अभिनय क्षणों को पुष्ट और सार्थक बनाने में काव्यत्व उसकी मदद करे। दूसरी ओर, यह भी उतना ही सच है कि काव्यनाटक में यद्यपि केवल कविता या केवल नाटक नहीं होता पर एक कुशल नाटककार अच्छी कविता के साथ-साथ अच्छी नाटकीयता की सृष्टि भी कर सकता है। कहने की ज़रूरत नहीं 'अंधायुग' ऐसी ही रचना है।

'अंधायुग' काव्य नाटक है, इसमें संशय नहीं। इसके पक्ष मे कई बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह कि प्रायः काव्य नाटक मुक्त छंद में लिखे गये हैं जैसे 'अंधायुग'। काव्य नाटक में घटना या क्रियाशीलता का महत्वपूर्ण स्थान है और अन्य संरचनात्मक अवयवों का संघटन भी नाटक की तरह ही होता है। 'अंधायुग' में भी क्रिया व्यापार एवं घटनाओं की योजना है। चरित्रों का विकास नाटक के अनुरूप है। 'महाभारत' की प्रख्यात कथा से भिन्न ऐसा कोई चरित्र नहीं है जिसे स्थापित करने के लिये नाटककार को अतिरिक्त परिश्रम करना पड़े। वस्तु विधान के सभी तत्व इस प्रकार नियोजित किये गये हैं कि उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति संभव हो। काव्य नाटक होने के कारण इस नाटक की भाषा गद्य नाटकों के मुकाबले अधिक महत्वपूर्ण हो उठी है और चूंकि 'अंधायुग' की भाषा पर आगे हम अलग से विचार करेंगे इसलिए यहाँ बस इतना उल्लेख पर्याप्त है कि काव्य नाटकों की भाषा सामान्य बोलचाल की गद्यात्मक भाषा नहीं होती, कविता मूलक और लय-तान की भाषा होती है जिसके उदहारण के रूप में 'अंधायुग' को देखा जा सकता है।

'अंधायुग' को गीतिनाट्य भी कहा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम काव्य नाटक से भिन्न कुछ कह रहे हैं। 'अंधायुग' के संवाद जिनमें छंदों का प्रयोग नहीं किया गया है। और न ही वे परंपरागत अर्थ में गीतात्मक है। लेकिन जैसा कि हम कह चुके हैं, इस नाटक के संवादों में काव्यात्मकता के सभी गुण है, साथ ही नाटकीयता का भी। इस नाटकीयता की सृष्टि लय और तान के माध्यम से की गई है जो गीतों के लिए भी ज़रूरी है। इसलिए इस सीमित अर्थ में 'अंधायुग' को गीति नाट्य कहना अनुपयुक्त नहीं है।

12.3 'अंधायुग' की भाषा और संवाद योजना

एक बार यह स्वीकार कर लेने पर कि 'अंधायुग' वस्तुतः काव्य नाटक है यह बात शुरू से ही साफ हो जाती है कि 'अंधायुग' की भाषा काव्यात्मक भाषा होगी, कविता की भाषा होगी, अन्य गद्य नाटकों की तरह सामान्य बोलचाल की गद्यात्मक भाषा नहीं। नाटक में काव्य दो प्रकार के संभव हैं : गद्यात्मक और पद्यात्मक। गद्य में भी कविता बन सकती है और भाषा काव्यात्मक ही कही जाएगी। दूर जाने की ज़रूरत नहीं, जयशंकर प्रसाद के अनेक नाटक और जगदीशचंद्र माथुर के 'कोर्णाक' नाटक इसके उदाहरण हैं। पद्यात्मक भाषा में संभव है आपको ऐसे अनेक पद्य नाटक मिलेंगे जिनमें छंद तो है, पर कविता नहीं है। काव्य नाटक में कविता की भाषा तो होगी ही उसका गद्यात्मक या पद्यात्मक में होना बाद की बात है।

नाटक की भाषा की खासियत यह होती है कि उस का अंतिम लक्ष्य दृश्यात्मक प्रस्तुति है इसलिए उसमें 'दिखाने' की प्रवृत्ति मुख्य होती है। अलबत्ता जो बातें दिखायी नहीं जा सकती अथवा जिन्हें दिखाने की कोशिश में माध्यम के दुरूपयोग की अनावश्यक अनपेक्षित विस्तार की संभावना रहती है वैसे प्रसंगों को दो चार शब्दों में कह देना ज्यादा अनुकूल होता है। पुराने नाटकों का स्वगत कथन, नेपथ्य कथन एव सूच्य संवादादि का यही प्रयोजन होता था। 'अंधायुग' में कथा गायन की युक्ति से भी वही काम लिया गया है। नाटक में जो बात दिखायी जा सकती है उसे शब्दों में नहीं कहा जाना चाहिए। लेकिन रंगमंच आधारित दृश्य प्रस्तुतियों की तरह उनमें शब्दों को एकदम बहिष्कृत भी नहीं किया जाना चाहिए। कथा को आगे बढ़ाने वाले, आगे-पीछे की घटनाओं में तारतम्य बनाए रखने के लिए, पात्रों के मनोभावों-विचारों की अभिव्यक्ति और चरित्र चित्रण के लिए या फिर वर्तमान प्रसंग की दृश्येतर व्याख्या के लिए संवाद योजना तो होती ही है। संवाद योजना का ही दूसरा अर्थ है भाषा का प्रयोग। दूसरी ओर किसी नाटक की दृश्य रचना करते हुए ऐसी भी स्थितियाँ बनती हैं जहाँ शब्दों की सामर्थ्य चुकने लगती है। अभिनय प्रधान रचना होने के कारण वैसे स्थलों पर अभिनय की भाषा या जिसे हरकत की भाषा कहा जाता है, उस भाषा का प्रयोग किया जाता है। दोनों प्रकार की भाषा मिलकर दृश्य के अर्थ को स्पष्टता, पूर्णता और अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। इसे एक छोटे से प्रसंग के माध्यम से समझ सकते हैं। दूसरे अंक का प्रसंग है कि वृद्ध याचक को अश्वत्थामा

गला घोंट कर मार डालता है। दृश्य मंच पर यह प्रसंग इस प्रकार घटित होता है कि वृद्ध याचक को देखकर :

आज नहीं बच पाएगा,
वह इन भूखे पंजो से
ठहरो! ठहरो!
ओ झूठे भविष्य
वंचक वृद्ध

और ऐसा कहता हुआ अश्वत्थामा 'दाँत पीसते हुए दौड़ता है। विंग के निकट वृद्ध को दबोचकर नेपथ्य में घसीट ले जाता है।' 'नेपथ्य में गला घोंटने की आवाज़' उभरती है और 'अश्वत्थामा का अट्टहास' सुनायी पड़ता है 'कृपाचार्य, कृतवर्मा हाँफते हुए अश्वत्थामा को पकड़कर स्टेज पर लाते हैं।' कृपाचार्य कहते हैं :

यह क्या किया
अश्वत्थामा
यह क्या किया?

अश्वत्थामा सफाई देता है :

पता नहीं मैंने क्या किया,
मातुल मैंने क्या किया?
क्या मैंने कुछ किया?

अब इस पूरे प्रसंग को समझें तो इसकी एक व्याख्या यह उभारती है कि भविष्य (वृद्ध यचक) की हत्या हो गयी है। दूसरी, यह कि अश्वत्थामा ने स्वयं कुछ नहीं किया उस पर तो 'अंधायुग ' सवार था जिसने उससे वृद्ध की हत्या करवाई। इसलिए जब ऊपरी आवेश उतर जाता है तो उसे पता ही नहीं होता कि उसने कुछ किया भी है। अर्थ की ये भंगिमाएँ अश्वत्थामा के दोनों संवादों की भाषा की देन है, पहले में अश्वत्थामा वृद्ध याचक को झूठा भविष्य कहता है और तब उसे मारता है अर्थात् उसने झूठे भविष्य की हत्या की। दूसरे संवाद में वह यह स्वीकार ही नहीं करता कि उसने कुछ किया भी है 'क्या मैंने कुछ किया?' पर उसे आभास है कि किसी अंध शक्ति ने, उसके अचेतन की हिंसा ने, उसके चेतन पर तात्कालिक रूप से अधिकार कर उससे करवाया है, पर स्थिति उसके समक्ष स्पष्ट नहीं है। वह स्पष्ट होती है अंतिम दृश्य में जब प्रभु की मृत्यु के उपरांत वह स्वीकार करता है कि :

मेरा था पाप
किया मैंने वध
किंतु हाथ मेरे नहीं थे वे
हृदय मेरा नहीं था वह
अंधायुग पैठ गया था
मेरी नस नस में।

इस संक्षिप्त व्याख्या के संदर्भ में एक बार पुनः अश्वत्थामा के उक्त दोनों संवादों को देखें तो उसकी काव्यात्मकता और उसका अर्थगत सौंदर्य स्पष्ट हो जाता है। परंतु इस पूरे प्रसंग से अगर हरकतवाली भाषा का अंश अर्थात् अश्वत्थामा का दांत पीसता हुआ वृद्ध के पीछे दौड़ना, उसे दबोचकर घसीटते हुए नेपथ्य में ले जाना और नेपथ्य से गला घोंटने की आवाज़ फिर कृपाचार्य और कृतवर्मा द्वारा अश्वत्थामा को ज़बर्दस्ती नेपथ्य कर्म से विरत कर मंच पर पकड़ लाना। यह पूरा का पूरा दृश्य अपने आप में हरकत की भाषा का एक अंग है जिससे याचक की हत्या और हत्या के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले मानसिक तनाव, अनुभूति की तीव्रता की

रचना आदि का काम लिया गया है। तभी संवाद भाषा या कि भाषिक शब्दों की चर्चित व्यंजनाएँ उभरकर सामने आ सकी हैं।

काव्य नाटक की भाषा की काव्यात्मकता को दृष्टि में रखकर ही काव्य नाटक जैसा नामकरण सामने आया है। परंतु इसका आशय यह कदापि नहीं लिया जाना चाहिए कि वह संवाद काव्य है। संवादों की भाषा में काव्यात्मकता हो, यह ज़रूरी है परंतु भाषा की यही एक ज़रूरत तो है नहीं, उसके ज़रिए नाटककार को और काम भी करने होते हैं, कथानक का नियंत्रण रखना होता है, चरित्र चित्रण करना होता है, सूच्य घटनाएँ सामने लानी होती है, कथावस्तु के अंतराल को जोड़ना होता है, आगामी घटनाओं के प्रच्छन्न संकेत देने होते हैं, एवं अन्य ऐसे ही कई प्रयोजन होते हैं जिनके लिए भाषा का इस्तेमाल होता है। फिर भी काव्य नाटकों का पूरा विधान ही काव्यात्मक होता है और गद्य नाटकों के मुकाबले उसमें अनुभूति की तीव्रता और गहराई कुछ ज्यादा होती है। कविता की भाषा में ही अनुभूतियों की तीव्रता को गहराई के साथ व्यंजित करने की शक्ति अधिक होती है। इसलिए मार्मिक प्रसंगों का काव्य नाटकों में सायास विधान किया जाता है जिससे पात्र और दर्शक अधिकाधिक आदोंलित हो सकें। ऐसी रचना को अंततः जनसाधारण से जुड़ना होता है इसलिए कवित्वपूर्ण भाषा होने के बावजूद इसमें वैसी सरलता की अपेक्षा बनी रहती है जिससे यह सहज ही सर्वजन और बोधगम्य हो सके। लिहाज़ा कविता की भाषा होकर भी वह बोलचाल की भाषा हो और नाटकीय भी हो यह जरूरी है। यानी सरलता, सहज बोधगम्यता, काव्यात्मकता और नाटकीयता के गुण, काव्य नाटक की भाषा और संवाद योजना के अपरिहार्य गुण बन जाते हैं। पुनः स्मरण कर लेना चाहिए कि शब्दों की भाषा के साथ हरकत की भाषा की अन्विति भी बनाए रखनी होती है।

काव्यात्मक भाषा का लयात्मकता से बड़ा गहरा रिश्ता है। ज़रूरी नहीं कि अनुप्रासों के ज़रिए वहाँ अनुरणन ध्वनि भी लाई जाय अथवा छंदों के द्वारा भाषिक प्रवाह की सहजता को नियंत्रित किया जाय। इसके विपरीत सहज स्वाभाविक लय के साथ जो सरलतम शब्द विधान संभव हो सके वही अधिकतम प्रभावशाली भाषा बन जाती है। सामान्य रूप से देखा गया है कि मुक्त छंदात्मकता काव्य नाटकों के अधिक अनुकूल रही है। इसमें एक बड़ी सुविधा नाटककारों को यह उपलब्ध होती है कि वह पात्रों के भावों के उतार-चढ़ाव के अनुरूप अलग-अलग लयों में संवाद योजना करने के लिए स्वतंत्र होती है। मंचीय साक्ष्य से नाटककार जिस दृश्य की योजना करता है उस दृश्य की अपनी गत्यात्मकता होती है और दृश्य विशेष में घटित होने वाले क्रिया व्यापार अपनी विविधता में अलग-अलग लयों की संवाद योजना की अपेक्षा रखते हैं। इस लिहाज़ से भी मुक्त छंद काव्य नाटक के अनुकूल पड़ता है। जैसे चौथे अंक का ही उदाहरण लेते हैं। इस अंक के कथागायन के शब्द विन्यास से उभरती हुई लय वह नहीं है जो प्रथम अंक के कथागायन की लय है क्योंकि दोनों की भावात्मक स्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं। चौथे अंक में ही गांधारी, विदुर और संजय के संवाद भी अलग-अलग देखे जाने चाहिए, क्योंकि तीनों पात्र भिन्न मानसिकताओं में संवाद बोलते हैं इसलिए यहाँ भी लयात्मकता भिन्नता है। काव्य नाटकों में काव्यत्व की भूमिका किंचित प्रधान होती है और चूँकि काव्यत्व का सीधा संबंध अनुभूति की तीव्रता, भावावेश और मनोवेगों के उद्वेलन से होता है इसलिए यदि कहीं अतिरंजनापूर्ण भाषा से संगठित संवादों के दर्शन हो जाए तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इन स्थितियों में जो भाषा बनती है उसमें बिंब, प्रतीक, अलंकार और लय आदि का सम्मिश्रण स्वतः होता जाता है। काव्य नाटक में आद्यंत इन विशेषताओं की उपस्थिति वस्तुतः एक सामान्य बात है। काव्य नाटक होने के कारण 'अंधायुग' में भी क़मोबेश ये सारी विशेषताएँ मौजूद हैं।

'अंधायुग' की काव्य भाषा और संवाद योजना पात्रों के चरित्र-चित्रण में समर्थ है, परिस्थितियों के मर्म को उद्घाटित करने वाली है, संक्षिप्त है, सरस और सजीव है, बोलचाल की शब्दावली के प्रयोग से सरल, सुबोध और सहज बोधगम्य है। निम्नलिखित उदहारण इसका प्रमाण है :

मैं दो बड़े पहियों के बीच लगा हुआ
एक छोटा निरर्थक शोभा-चक्र हूँ

जो बड़े पहियों के साथ घूमता है
पर रथ को आगे नहीं बढ़ाता
और न धरती ही छू पाता है!
और जिसके जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है
कि वह धुरी से उतर भी नहीं सकता!

नाटक की संवाद योजना निर्विवाद रूप से गत्यात्मक, भावपूर्ण, बिंबधर्मी, अभिनेय क्षणों की अभिव्यक्ति के अनुरूप और अभिनय की भाषा या हरकत की भाषा को पूर्णता प्रदान करने वाली है। संवाद योजना के माध्यम से पात्रों के गुणावगुणों की अभिव्यक्ति हुई है, नाट्यवस्तु को गति मिली है और वस्तु विधान को निश्चित प्रभाव तक ले जाने में संवाद योजना की सफलता रही है।

गांधारी :

तो, वह पड़ा है कंकाल मेरे पुत्र का
किया है यह सब कुछ कृष्ण
तुमने किया है यह
सुनो!
आज तुम भी सुनो
मैं तपस्विनी गांधारी
अपने सारे पिछले जन्में के पुण्यों का
बल लेकर कहती हूँ

कृष्ण सुनो!
तुम यदि चाहते तो रुक सकता था युद्ध यह
मैंने प्रसव नहीं किया था कंकाल वह
इंगित पर तुम्हारे ही भीम ने अधर्म किया
क्यों नहीं तुमने वह शाप दिया भीम को
जो तुमने दिया निरपराध अश्वत्थामा को
तुमने किया है प्रभुता का दुरुपयोग

यह सही है कि काव्य नाटकों में बोलचाल की सरल भाषा के प्रयोग का महत्वपूर्ण स्थान रहता है पर वह नितांत असाहित्यिक और नीरस भी हो जाए तो रचना भाषिक धरातल पर कहीं असफलता का अहसास कराने लगती हैं। 'अंधायुग' में दोनों प्रकार की भाषिक क्षमताओं का उपयोग संभव हुआ है। अर्थात् एक ओर जहाँ बोलचाल की भाषा की सरलता-सहजता है, वहीं साहित्यिकता या कहें कि काव्यात्मकता के सरस, अर्थगर्भित, कलात्मक प्रयोग का संतुलन भी है। *'गूंगों के सिवा आज और कौन बोलेगा मेरी जय ,' 'हर क्षण इतिहास बदलने का क्षण होता है', 'अंतिम परिणति में दोनों जर्जर करते हैं, पक्ष चाहे सत्य का हो अथवा असत्य का', 'अंधों को सत्य दिखाने में क्या मुझको भी अंधा ही होना है'* जैसे संवादों के उदाहरण इस बात को समझने के लिए पर्याप्त है कि इन संवादों की व्याख्या की संभावनाओं ने इनकी काव्यात्मकता असंदिग्ध बना दी है यद्यपि भाषा सरल, सहज और बोलचाल की ही है।

एक बात तो साहित्य का सामान्य विद्यार्थी भी समझता है कि दर्शन और विज्ञान की भाषा अभिधामूलक और पारिभाषिक शब्दावली वाली होती है, जबकि कविता की भाषा लक्षणा, व्यंजनामूलक, बिंबात्मक और संदर्भमूलक होती है। संदर्भों के बिंब बनाने के लिए उपमानों की योजना की जाती है *'यह कथा ज्योति की है अंधों के माध्यम से'*। सादृश्यमूलक अलंकारों के लिए भी यही जगह उपयुक्त होती है, संदर्भों के सदृश उपमान की योजना जैसे *'युधिष्ठिर क अर्द्धसत्य, घायल और कटा हुआ'* या *'अंधेपन के अंधियारे में भटका हूँ। अग्नि है नहीं यह ज्योतिवृत्त'*। प्रतीकों के प्रयोग की संभावना भी भाषा के इसी धरातल पर स्पष्ट होती है :

धुरी से उतरा हुआ पहिया हूँ ' अर्थात् कविता की भाषा अभिधापरकता से लाक्षणिकता-व्यंजकता की ओर अथवा कहें कि अलंकारिकता की ओर तथा अलंकारिकता से प्रतीकात्मकता की ओर उन्मुख होती है। 'अंधायुग' काव्य नाटक के कतिपय उदहारणों में यह स्पष्ट है। दूसरी बात यह कि लय कविता का एक अनिवार्य तत्व है जो उसे बोलचाल की सामान्य गद्य भाषा से पृथक करती है। यही कारण है कि काव्य नाटक की भाषा अन्य गद्य नाटकों से भिन्न और विशिष्ट होती है।

12.4 'अंधायुग' में रंगशिल्पगत प्रयोग

'अंधायुग' के रंगशिल्पगत कतिपय प्रयोगों की ओर संकेत करने के पूर्व रंगशिल्प या रंगदृष्टि को समझ लेना चाहिए। रंगशिल्प का संबंध किसी भी नाटक की मंचीय क्षमता के निर्माण या कहें कि नाटकों मे मंचन-योग्यता की सृष्टि करने से होता है। रचना की यह दृष्टि रंगदृष्टि कहलाती है। 'शिल्प' कौशल को कहते हैं। इसलिए रंगशिल्प का अर्थ इस रूप में लिया जा सकता है कि नाट्यकृतियों में मंचनयोग्यता, मंचीयता की सृष्टि का कौशल रंगशिल्प है। इस दृष्टि से देखें तो स्पष्ट होगा कि किसी भी नाटककार के समक्ष नाट्य रचना के क्षणों में मंच पर घटित होने वाले समस्त क्रिया व्यापार, पात्रों के हाव-भाव, संवाद कथन और उसकी भंगिमाएँ, मंचीय उपकरणादि, पात्रों की स्थिति, आदि बातें शीशें की तरह एकदम साफ और स्पष्ट रहती है। जिस प्रकार सूत्रधार अपनी ऊँगलियों के इशारे से मनोवांछित रूप से अपनी कठपुतिलयों को नचाता है, किसी नाटक की रचना करते हुए नाटककार भी उसी हैसियत में होता है। जिस क्षण विशेष की वह रचना कर रहा होता है उस क्षण विशेष में घटित होने वाला समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म मंचीय व्यापार उसके मस्तिष्क पटल के मंच पर एकदम साफ अंकित रहता है। वह जैसे ही नाट्य रचना की दिशा में प्रवृत्त होता है उसकी कल्पना में नाटक का स्वरूप आकार लेने लगता है। जब नाटकीय दृश्य का यह मानसिक साक्षात्कार पूरा हो जाता है तो फिर वह नाटक के उस दृश्य स्वरूप को लिपिबद्ध करता है जिसे हम आज की भाषा में आलेख (पटकथा) कहते हैं। अपने मन के मंच पर नाटक को जिस प्रकार घटित होते हुए नाटककार ने देखा है वह दृश्य मंच पर भी उसी प्रकार घटित हो इसके लिए नाटककार अपने आलेख में स्थान-स्थान पर आवश्यक निर्देश देता है जिसे रंगनिर्देश कहते हैं। कुछ विद्वानों की राय में यही निर्देश रंगशिल्प है। बहरहाल, नाटकों में दिए गए ऐसे रंगनिर्देशों से नाटक के मंचन की दिशा स्पष्ट होती है, नाटक का दृश्यरूप स्पष्ट, स्थिर और सुनिश्चित होता है। इसलिए नाटक खेलनेवाले रंगकर्मियों और निर्देशकों के लिए नाटक में दिए गए रंगनिर्देश का पालन करना उसी प्रकार वांछनीय है जिस प्रकार नागरिकों के लिए कानूनों (विधान) का पालन करना। नाटकों की प्रस्तुति के मामले में इन रंगनिर्देश की मान्यता लगभग कानून विधान की होती है इसलिए यहाँ आकर वही रंगनिर्देश 'रंगविधान' बन जाते हैं। इस प्रकार, हमारे सामने तीन पारिभाषिक शब्द आते हैं, रंगदृष्टि, रंगनिर्देश (रंगशिल्प) और रंगविधान। मूलतः तीनों शब्द एक ही अर्थ की ओर इशारा करते हैं : रंगदृष्टि नाटककार द्वारा नाटक का मानसिक साक्षात्कार है, रंगशिल्प उस मानसिक साक्षात्कार की दृश्य प्रस्तुति का निर्देश है और रंगविधान इन दोनों के आधार पर दृश्य प्रस्तुति निर्माण करने की विधि है।

नाटक की मंचीय प्रस्तुति के लिए नाटककार द्वारा दिए गए निर्देश रंगशिल्प है जिनकी सहायता से नाटक का निर्देशक नाटककार की मूल परिकल्पना को पकड़कर तदनुरूप मंचीय प्रस्तुति का अभियोजन करता है। अपने निर्देशों के द्वारा नाटककार वस्तुतः नाट्य प्रस्तुति की शैली और विधि को पहले से ही तय कर देता है। निर्देशक को उसे व्यवहार में लाना होता है। इसलिए नाटक अपनी प्रस्तुति में किस रूप में ढलेगा इसका सूक्ष्म नियंत्रण नाटककार के हाथों में होता है। कुछ निर्देशक उसका अक्षरशः पालन भी करते हैं। कुछ उसमें नयी कल्पना भी जोड़ देते हैं जिससे कभी तो नाटक का स्वरूप और निखर उठता है, तो, कभी उसकी मूल अवधारणा से विचलन हो जाता है। इस प्रकार यह बात तो साफ हो जाती है कि नाटक मंच पर कैसा

उतरेगा यह बहुत हद तक नाटककार की अपनी परिकल्पना और उस परिकल्पना के तहत दिए गए उसके निर्देशों में निहित होता है।

अपनी कल्पना के निर्देशों के ज़रिए उभारने का यही कौशल रंगशिल्प है। जैसा कि स्पष्ट किया गया है शिल्प कौशल को कहते हैं। इसलिए रंगशिल्प का सीधा अर्थ हुआ रंगमंचीय कौशल। नाटककार नाटक की कुशल मंचीय अवतारणा के लिए अपने जिस कौशल का परिचय देता है उसे हम रंगशिल्प कह सकते हैं। दृश्यधर्मी कलाएँ मात्र कला भर नहीं होतीं, शिल्प भी होती हैं। इसलिए किसी नाटक के सार्थक रूपायन के शिल्प को भी रंगशिल्प कह सकते हैं। इस प्रयोजन से नाटककार अपने भिन्न-भिन्न प्रकार के कौशलों का सार्थक उपयोग करता है अथवा सौंदर्य की अभिराम सृष्टि के लिए इस क्षेत्र में नये-नये प्रयोग करता है। अतः किसी नाट्यकृति का अध्ययन इस दृष्टि से भी किया जा सकता है कि नाटककार ने अपने कौशल को किस प्रकार प्रदर्शित किया है, कौन-कौन से कौशल अपनाए हैं और इस दृष्टि से भी किया जा सकता है कि सामान्यतः जिन प्रकार के कौशलों का सहारा नाटककार लिया करते हैं समीक्ष्य (विवेच्य) नाटककार ने उससे भिन्न कोई नया प्रयोग भी किया है और अगर किया है तो उस प्रयोग से रचना के कलात्मक सौंदर्य की वृद्धि हुई है या नहीं, व्याख्याओं और अर्थ की नई-नई संभावनाएँ उभरी हैं, या नहीं। इन दृष्टियों से सफल होने पर प्रयोग को सफल और कलात्मक बताया जाएगा अन्यथा विफल और फूहड़। किसी भी नाटक में प्रयुक्त होने वाले ऐसे समस्त अवयव जिनसे नाटक का आंतरिक रंगमंच (यहाँ आंतरिक रंगमंच से आशय नाटक के उस मंचीय रूप से लिया जाना चाहिए जिसका अपनी कल्पना में नाटककार ने प्रत्यक्षीकरण किया है और बाद में मन के मंच पर देखे गए जिस नाटक को आलेख के रूप में बांधा गया है, स्थिर किया गया है) अपना दृश्य रूपाकार लेता है वैसे सभी अवयव रंगशिल्प में परिगणित किए जाएँगे। यह वास्तविकता है कि प्रस्तुति में नाटकेतर (आलेख से भिन्न) कुछ भी घटित नहीं होता बल्कि आलेख में जो अमूर्त अदृश्य, अश्रव्य संभावनाएँ रहती है उन्हें उभारकर प्रदर्शनों में उन्हें मूर्त, दृश्य, श्रव्य बनाया जाता है। आंतरिक रंगमंच इसी रीति से बाहर (प्रकट) होकर दृश्यत्व पाता है। इसीलिए नाटक के सार्थक रूपायन को भीतर से बाहर आने की प्रक्रिया कहना उचित है।

नाटक का उद्देश्य 'कहना' नहीं 'दिखाना' होता है। जिसे केवल कहा जा सकता है, नाटक में केवल वही बात कही जानी चाहिए। जिसे दिखाया जा सकता है उसे शब्दों में कह देने से ही नाटक की अपनी शक्ति, नाटकीयता अथवा कहें कि माध्यमगत विशिष्टता का ह्रास होता है और यह नाटक का गंभीर दोष बन जाता है। नाटककार कुछ बातें कहने के लिए विवश होता है जिसे अधिकतर वह स्वगत, कथागायन सूत्रधार जैसे रंगशिल्पगत प्रयोगों के ज़रिए कहता है। 'अंधायुग' में नाटककार ने कहने योग्य बातों को कहने के लिए मुख्य रूप से कथागायन का सहारा लिया है जिसके ज़रिए वह विश्रृंखल कथावस्तु और घटनाक्रमों को जोड़ता चलता है और साथ-ही-साथ समय-समय पर अपनी टिप्पणियाँ देने से भी नहीं चूकता। 'पंख, पहिए और पट्टियाँ' जैसे अंतराल दृश्य भी इसी प्रकार के रंगशिल्पगत प्रयोगों का उदहारण है जिसमें वृद्ध याचक की प्रेतात्मा के स्वगत या एकालाप के बाद मुख्य पात्रों का एक-एक कर आना और स्वगतकथन के रूप में सम्मोहनावस्था में अपनी-अपनी बातें कहना वस्तु विधान के अंतराल को भरने की एक कुशल योजना के रूप में प्रस्तुत की गयी है। इसी प्रकार के कौशल का प्रयोग अंकावतार या गर्भांकों की योजना करके पारंपरिक नाटकों, संस्कृत के शास्त्रीय नाटकों में, नाटककार अपने रचना कौशल का प्रमाण देते थे। रंगशिल्प के ही एक नये किस्म के प्रयोग के रूप में किसी दृश्य के भीतर एक अंतर-दृश्य रचने के कौशल में देखा जा सकता है जैसे दूसरे अंक के अंत में जब अश्वत्थामा क्रोधांध में याचक की हत्या कर देने के बाद कृतवर्मा और कृपाचार्य द्वारा समझाए बुझाए जाने पर सामान्य होता है और दोनों गुरूजन आराम करते हैं तथा अश्वत्थामा पहरा दे रहा होता है तो नाटककार एक अंतराल दृश्य के रूप में अंधकार में घटने वाले कौवे और उल्लू के युद्ध के अंतर दृश्य की योजना प्रस्तुत करता है जिससे अश्वत्थामा को प्रेरणा मिलती है कि वह पाण्डवों से किस प्रकार अपना प्रतिशोध ले सकता है। अधुनिककालीन नाटकों में, चल रहे दृश्य के भीतर एक नये दृश्य के सृजन का यह

रंगशिल्पगत प्रयोग अब काफी प्रयुक्त होने लगा है और ताज्जुब की बात नहीं होगी अगर खोज करने पर यह स्पष्ट हो कि हिंदी में इस प्रकार का प्रथम प्रयोग 'अंधायुग' में किया गया है। दोनों प्रहरियों के बीच की संवाद योजना भी इसी प्रकार के रंगशिल्प का एक हिस्सा है क्योंकि उन दोनों के बीच की संवाद योजना में अभिनेय क्षणों की संभावनाएँ हैं ही नहीं और न वह उसका प्रयोजन है। दोनों प्रहरियों का संवाद वस्तुतः कथागायन की ही तरह क्षेपक का काम करते हैं और जो बातें सिर्फ कही जा सकती थीं उन बातों को प्रहरियों के वार्तालाप (कहीं-कहीं तो वह संवाद वार्तालाप की अपेक्षा स्वगत ही अधिक हो गए हैं) के ज़रिए नाटककार ने कहा दिया है। स्वगत से भिन्न शैली में ढली होने के कारण यह संवाद योजना भी रंगशिल्प का एक अभिनव प्रयोग बन गया है।

नाटक के प्रथम अंक का प्रथम दृश्य प्रारंभ होने पर हमारे सामने दो प्रहरी वार्तालाप करते हुए आते हैं। बीच में ही नाटककार निर्देश देता है कि "चुप रहकर वे बार-बार घूमते हैं। सहसा स्टेज पर प्रकाश धीमा हो जाता है। नेपथ्य से आंधी की सी ध्वनि आती है। एक प्रहरी कान लगाकर सुनता है। दूसरा भौंहों पर हाथ रखकर आकाश की ओर देखता है।" देखने में यह साधारण सा मंचनिर्देश है परंतु थोड़ा-सा ध्यान देने पर यह स्पष्ट होता है कि इसमें ध्वनि और प्रकाश विषयक मंचीय नियंत्रण का स्पष्ट निर्देश है। सहसा स्टेज पर प्रकाश का धीमा होना इसलिए ज़रूरी हो जाता है कि प्रहरियों के संशकित होने का तार्किक आधार बने कि यह अचानक रोशनी क्यों कम हो गयी। आगे पता चलता है कि गिद्धों का झूंड उड़ता हुआ आ रहा है। आकाश में छाए हुए गिद्धों के दल ने प्रकाश को अवरूद्ध कर दिया है। इसके बाद का निर्देश आंधी की सी ध्वनि का है। ज़ाहिर है कि इतने सारे गिद्ध अगर आकाश में उड़ते आ रहे हों कि सूर्य का प्रकाश भी क्षीण हो जाए, तो, उन गिद्ध समूह के आकाश में उड़ने से आंधी की सी ध्वनि उत्पन्न होगी ही। प्रहरियों को इन दोनों ही कारणों से संदेह होता है कि शायद धूल भरी आंधी आ रही है। ऐसे में उनका शंकित, सावधान और चौकन्ना होना एकदम स्वाभाविक है। इस भाव का स्वाभाविक कायिक अभिनय रूप यह है कि कान लगाकर ध्यान से ध्वनि को सुनने और स्थिति को समझने की कोशिश की जाय और दूर-दूर तक दृष्टि फिराकर आकाश का मुआइना किया जाय। सूर्य की ओर आँख उठाने पर भौहों पर हथेली की आड़ करना भी स्वाभाविक क्रिया है। अतः अभिनेय क्षणों की स्वाभाविकता की रक्षा करने के लिए दिए गए रंगनिर्देश एकदम सटीक, उपोगी और संभावनापूर्ण है। संभावनापूर्ण इसलिए कि इस अभिनय द्वारा जिस आकस्मिकता का संदेह आंधी के रूप किया गया था, वह अंततः गिद्धों की आंधी ही साबित होती है। गिद्धों का इतने बड़े समूह में आना भीषण नर संहार की विभीषिका का स्पष्ट संकेत देता है। गिद्धों का दल जब प्रहरियों के सिर पर होता है तो नाटककार निर्देश देता है कि "पंखों की ध्वनि के साथ मंच पर और भी अंधेरा" और जब गिद्ध प्रहरियों के सिर से गुजरकर कुरूक्षेत्र की युद्धभूमि की ओर आगे बढ़ जाते हैं, तो नाटककार निर्देश देता है "प्रकाश तेज़ होने लगता है" तथा "आंधी की ध्वनि कम होने लगती है।" देखने में एकदम छोटे और साधारण लगने वाले ये निर्देश एक संपूर्ण दृश्य के क्षणों के बाँधने की एक सार्थक युक्ति है जिसका प्रतीकार्थ अलग से समझाने की ज़रूरत नहीं रह जाती, दृश्यक्रम से दर्शक स्वयं भी सहज ही इस घटना को, घटना के अर्थ को आत्मसात कर लेगा।

परंपरा से ऐसा होता आया है कि नाटककार मंचीय क्रिया व्यापार को नियंत्रित करने के लिए पात्रों की गति, आवागमन, संवाद योजना, अभिनय मुद्रा, क्रिया व्यापार आदि स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर गतिविधि का स्पष्ट लेखा जोखा दे देता है। परंपरा से हटकर, नयी परंपरा बनाने की कोशिश को प्रयोग की संज्ञा दी जाती है। प्रयोग का मूल प्रयोजन परंपरा में एक नवीन कलात्मक सौंदर्य की सृष्टि करना होता है। नाटक के दूसरे अंक के कतिपय प्रसंग पर विचार करें तो स्पष्ट होता है कि "धीरे-धीरे जाने लगता है", "वृद्ध की ओर बढ़ने लगता है", "दांत पीसते हुये दौड़ता है....", "अश्वत्थामा को पकड़ कर स्टेज पर लाते हैं", "अश्वत्थामा को बिठा कर उसका कमरबंद ढीला करते हैं" जैसे निर्देश मंचीय क्रिया व्यापार का नियंत्रण करते हैं। इससे आगे "कृतवर्मा से", "व्यंग्य से" संवाद विषयक निर्देश है। अभिनय के लिए भी स्पष्ट निर्देश हैं यथा चुप रहने का संकेत कर, कोई काल्पनिक वस्तु फेंकता है, आदि - अभिनय के

चारों अंगों से संबद्ध निर्देश हैं। अभिनय मुद्रा का भी निर्देश है यथा 'संजय इस मुद्रा में खड़े हैं जैसे पहले से वार्तालाप चल रहा हो।' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'अंधायुग' नाटक में भी पारंपरिक ढंग से रंगनिर्देश दिए गए हैं। रंगशिल्प के दो प्रयोगपरक स्थलों का उल्लेख किया ही जा चुका है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'अंधायुग' काव्य नाटक का रंगशिल्प सामान्यतः पारंपरिक है परंतु प्रयोग की प्रवृत्ति भी विद्यमान है जिसके चलते कतिपय रंगशिल्पगत प्रयोग संभव हो सके हैं।

12.5 'अंधायुग' की रंग प्रस्तुति

नाटककार धर्मवीर भारती ने 1972 में 'इनैक्ट' पत्रिका में अपने पत्र में यह स्पष्ट स्वीकार किया था कि 'अंधायुग' की रचना उन्होंने वस्तुतः मंचीय प्रस्तुति के लिए रामलीला के अनुकरण पर की थी। इसलिए नाटक का मंचन तो होना ही था। यह अलग बात है कि नाटक रेडियो प्रसारण में भी अपना सफल प्रभाव संप्रेषित करने में सक्षम रहा है।

'अंधायुग' का प्रथम मंचन 1962 के दिसंबर में सत्यदेव दुबे के निर्देशन में खुले आंगन में हुआ। दो वर्ष बाद श्री दुबे के निर्देशन में ही थियेटर युनिट द्वारा बंबई में इसकी प्रस्तुति हुई। कलकत्ता की नाट्य संस्था 'अनामिका' ने 25 दिसंबर 1964 को श्री दुबे के निर्देशन में ही इसे प्रस्तुत किया। इससे पहले 1963 में दिल्ली के फिरोजशाह कोटला के खंडहर में इब्राहिम अल्काज़ी द्वारा भी इसे प्रस्तुत किया गया। इसके बाद दिल्ली में ही 18 मई 1967 को तालकटोरा गार्डन और 28 अप्रैल से 5 मई 1974 के बीच पुराने किले में भी इसके कई प्रदर्शन हुए। नाट्य प्रदर्शन का यह सिलसिला अनवरत जारी रहा और इसे हिंदी सहित कुछ अन्य भारतीय भाषाओं में भी खेला जाता रहा। नाटक की प्रस्तुतियों का विवरण संकलित करना जरा कठिन काम होता है क्योंकि अखबारी खबरों में ये बिखरी होती है और बहुत सारे प्रदर्शनों की सूचना तो अखबारों में भी नहीं आ पाती। फिर भी पत्र-पत्रिकाओं के आधार पर सुरेश गौतम और वीणा गौतम ने प्रस्तुतियाँ की लंबी सूची परिश्रम से प्रस्तुत की है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि यह हिंदी के उन कुछ नाटकों में से हैं, जिन्हें रंगमंच पर भी अपार सफलता मिली और जिसे भारत के लगभग सभी प्रतिष्ठित निर्देशकों ने मंचित किया।

रंगधर्मिता और प्रस्तुतीकरण की संभावनाएँ

जैसा कि पहले कह चुके हैं, नाटक को रचते समय उस नाटक के मंचीय स्वरूप की एक कल्पना तो नाटककार के मन में रहती ही है और उसकी कल्पना पूरी तौर पर सही उतरे इसके लिए वह अपेक्षित रंग निर्देश दे देता है ताकि उन निर्देशों को ग्रहण कर निर्देशक नाटकाकार को कल्पना को सही रूपाकार दे सके। परंतु कभी-कभी निर्देशक नाट्य प्रस्तुति का प्रभाव बढ़ाने के लिए अपनी सूझ-बूझ और प्रतिभा का प्रयोग करते हैं और प्रस्तुति में नाटक के कलात्मक सौंदर्य को बढ़ा देते हैं। जैसे लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'करफ्यू' में क्रूरता का प्रभाव उभारने के लिए निर्देशक ने नाटककार द्वारा दिए हुए सेट के निर्देश से भिन्न अपनी कल्पना से सेट को पिंजड़े के सींखचों के रूप में ढ़ाल दिया। मॉरीशस में 'अंधायुग' को प्रस्तुत करते हुए निर्देशक मोहन महर्षि ने भी कुछ ऐसे ही छोटे-मोटे प्रयोग किए और वे बड़े ही असरदार साबित हुए। जैसे यह कि युद्ध के हाहाकार को उन्होंने पार्श्वध्वनि से उभारा और लुंज पुंज कौरव सेना को उन्होंने धृतराष्ट्र के हाथों द्वारा अभिव्यक्त कराया ताकि धृतराष्ट्र के साथ दर्शक भी यह महसूस कर सके कि युद्ध की परिणति कितनी कुत्सित और जघन्य होती है। महर्षि ने पाँच अंकों को तीन अंकों में संक्षिप्त कर दिया था और सेट एक ही रखा था। रंग समीक्षकों की राय में मंच-रचना की दृष्टि से यह भी संभावनापूर्ण प्रयोग था।

हर नयी संस्था द्वारा नये कलाकार और निर्देशकों के द्वारा एक ही नाटक की प्रस्तुति के अलग-अलग रंग देखने को मिलते हैं। 'अंधायुग' की यह विशेषता है कि इसे नये-नये प्रयोगों के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। हर नई प्रस्तुति में 'अंधायुग' एक नये अर्थ में हमारे

सामने प्रस्तुत हो सकता है। फिरोजशाह कोटला के खंडहर में अल्काज़ी के निर्देशन में हुई प्रस्तुति के प्रसंग में कहा गया कि 'अंधायुग' के अभिशप्त पात्रों और उनकी जर्जरता, पराजय, निराशा और टूटन से ध्वस्त पृष्ठभूमि में व्याप्त काली अंधी की छायाओं को मूर्त रूप देने के लिए कोटला के खंडहरों के बीच एक बुर्ज, टूटे दरवाजे, सीढ़ियों और रथचक्र वाले मुक्ताकाशी खुले मंच का आश्रय लिया गया। जाहिर है यह वातावरण अपने आप में नाटक की विषयवस्तु की भयावहता को प्रतिबिंबित करने में पूर्णतः समर्थ था। ध्वस्त खंडहर की पृष्ठभूमि में मृत्यु के प्रतीक गिद्ध समूह, सत्य की पराजय का प्रतीक टूटे हुए रथ का पहिया, बुझे हुए मन की तरह प्रकाशहीन मार्ग, कोने में छिपा बैठा अंधेरे का अहेरी आखेटक, भूतों की परछाई की तरह घूमते कौरवकुल गौरव, यह सब प्रस्तुत करना और दिखाना किसी प्रेक्षागृह के उपयुक्त भी नहीं था। दूसरी ओर अल्काजी के ही 19 अप्रैल 1974 की प्रस्तुति को वेशभूषा एवं आलेख के विभिन्न अंशो के संपादन ने अलग ढंग से प्रभावित किया। इस प्रस्तुति से दर्शक चमत्कृत हुए और नाटक की तड़क भड़क विहीन सीदी सादी प्रस्तुति को सराहना मिली। रवि वासवानी ने नाटक की प्रस्तुति में एक नया प्रयोग यह किया कि उन्होंने प्रहरियों के हाथ में बंदूके थमा दीं और रसाभास की स्थिति बना दी। 'अंधायुग' का साधारण दर्शक भी यह आसानी से समझ सकता था कि नाटक का कथ्य युद्ध के आधुनिक परिदृश्य से जुड़ा है, उसके लिए बंदूके ज़रूरी नहीं थीं। रवि वासवानी का ही लखनऊ का दूसरा प्रदर्शन 'दर्पण' की ओर से हुआ जो भिन्न रूप में प्रस्तुत हुआ और प्रशंसित भी हुआ। अपनी इस प्रस्तुति में वासवानी ने इस बात पर जोर डाला कि यह कहना संभव नहीं कि युद्ध में विजय सत्य की होगी या असत्य की। ध्यान देने की बात यह है कि नाटक के अलग-अलग कथ्यों पर बल देकर नाटक की अलग-अलग प्रस्तुति को स्वतंत्र व्यक्तित्व दिया जा सकता है। रंगकर्म के अनुभवों से अब यह बात सिद्ध हो चुकी है कि हर नाटक अपनी अलग-अलग प्रस्तुतियों में नये व्यक्तित्व और रूप-रंग के साथ प्रकट होता है और दर्शकों को नया अनुभव देता है।

अंत में एक बात और कि यद्यपि नाटककार ने बार-बार इस बात की पुष्टि की है कि 'अंधायुग ' मंच को ही ध्यान में रखकर लिखा गया है परंतु लिख जाने के बाद नाटक का रेडियो रूपांतर भी प्रस्तुत किया गया जिसके चलते नाटक के संवादों की लय, तान, टोन और भाषा को साफ करने का भारती को पूरा अवसर मिला। इस प्रकार सुमित्रानंदन पंत के आग्रह पर किया गया नाटक का रेडियो प्रसारण नाटककार के लिए फायदेमंद ही साबित हुआ। अपने शिल्पगत कौशल से उन्होंने नाटक का शिल्पगता ढाँचा इतना लचीला बना रखा है कि मंच विधान के हल्के से फेरबदल से नाटक खुले मंच के लायक बनाया जा सकता है और ऐसी प्रस्तुतियों की पीछें चर्चा भी हो चुकी है। दूसरी ओर यह लोकनाट्य की विभिन्न शैलियों में भी खेला जा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि धर्मवीर भारती का यह नाटक संभावनाओं से भरपूर है।

12.6 सारांश

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम-4 के दूसरे खंड की इस अंतिम इकाई में आपने 'अंधायुग' के नाट्य शिल्प के बारे में अध्ययन किया है। 'अंधायुग ' के रचनात्मक स्वरूप को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं। इस काव्य नाटक, गीति नाट्य, पद्य नाटक आदि विभिन्न नामें से पुकारते हैं। लेकिन निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यह नाटक का ऐसा संरचनात्मक स्वरूप है जिसमें कविता अपनी प्रायः सभी विशेषताओं के साथ मौजूद है। लय, तान, रचनात्मकता और बोलचाल की भाषा, छंदात्मकता और मुक्त छंद, शास्त्रीय और लोकनाट्य की दृश्य विधियों के संयोजन के साथ-साथा नाट्य रचना में प्रयुक्त होने वाले समस्त अवयवों के कुशल मिश्रण से 'अंधायुग' एक सफल काव्य नाटक बन पड़ा है।

नाटक में भाषा के प्रयोग के कई धरातल होते हैं लेकिन, प्रमुख रूप से भाषा का सौंदर्य संवादों के माध्यम से सामने आता है। 'अंधायुग' की भाषा और संवाद योजना में नाटक और काव्य दोनों की भाषिक विशेषताओं का सफल समन्वय किया गया है।

नाटक का उद्देश्य 'कहना' नहीं 'दिखाना' है। रंगशिल्प इस दिखाने की प्रक्रिया को पूरा करने में सहायक कौशल है। इस दृष्टि से 'अंधायुग' में पारंपरिक रंग निर्देशों के साथ-साथ नवीन निर्देशों का भी प्रयोग किया गया है। ध्वनि और प्रकाश की अर्थपूर्ण संभावनाओं के साथ यह नाटक अपनी अर्थ-व्यंजना में बहुआयामी है।

'अंधायुग' के पिछले लगभग 45 सालों में सैकड़ों सफल मंचन हुए हैं। इस नाटक को प्रतिष्ठित रंग निर्देशकों ने खेला है जिनमें इब्राहिम अलकाजी, सत्यदेव दुबे, मोहन महर्षि, रवि वासवानी आदि उल्लेखनीय हैं। निर्देशकों ने इसकी प्रस्तुति में नये-नये प्रयोग भी किए हैं। नाटक की सफलता उसकी प्रस्तुति में ही निहित है।

अभ्यास

1. काव्य नाटक के रूप में 'अंधायुग' की रचनात्मक विशिष्टता को मूल्यांकित कीजिए।
2. 'अंधायुग' की भाषिक विशेषताओं और संवाद योजना का सोदाहरण विवेचन कीजिए।
3. 'अंधायुग' की रंग प्रस्तुतियों के संदर्भ में रंगशिल्प की समीक्षा कीजिए।

परिशिष्ट - 1 : मोहन राकेश और 'आधे-अधूरे'

जीवन परिचय

मोहन राकेश के साहित्य को उनके जीवन से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। साहित्य में भी लगभग वे उन्हीं मध्यवर्गीय समस्याओं से जूझते रहे, जिनसे वे जीवन में जूझ रहे थे। मोहन राकेश का जन्म 8 जनवरी 1925 को अमृतसर में हुआ था। उनके पिता करमचंद अरोरा (गुगलानी) पेशे से वकील और अत्यंत अनुशासन प्रिय एवं संस्कारी व्यक्ति थे। जब राकेश 16 वर्ष की अवस्था के थे, तभी उनके पिता का निधन हो गया। घर की हालत आर्थिक दृष्टि से बहुत ठीक नहीं थी। अपनी माता के प्रति राकेश के मन में गहरा आदर का भाव था।

मोहन राकेश ने संस्कृत में एम.ए. किया था। शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने अध्यापन और पत्रकारिता सहित कई नौकरियाँ कीं। वे कभी एक शहर में टिककर नहीं रह पाये। यह भटकन शहर और मकान के स्तर पर ही नहीं अंतःमन और जीवन के स्तर पर भी थी। भारत के विभाजन की विभिषिका का गहरा असर उनके मानस पर पड़ा। गहरी संवेदनशीलता और वैचारिक तथा व्यावहारिक बेचैनी का असर उनके जीवन पर स्पष्ट देखा जा सकता है। राकेश ने अपने जीवन में कई नौकरियाँ प्राप्त की और उन्हें छोड़ दिया। उन्होंने प्रसिद्ध कहानी पत्रिका 'सारिका' का भी संपादन किया था। वे स्वाभिमान के धनी व्यक्ति थे और नौकरी अपनी शर्तों पर करना पसंद करते थे इसलिए जब भी उन्हें लगता कि नौकरी उनके सम्मान को ठेस पहुँचा रही है या उनकी रचनाधर्मिता में बाधक बन रही है उन्होंने नौकरी छोड़ने में देर नहीं की। उनका पारिवारिक और व्यावहारिक जीवन भी अस्थिर रहा। उन्होंने तीन विवाह किए। पहले दो विवाह स्थायी नहीं रहे और जल्दी ही संबंध-विच्छेद हो गया।

राकेश के मित्रों का दायरा काफी बड़ा था। दोस्तों की संगति उन्हें अच्छी लगती थी। वे जितने संवेदनशील थे उतने ही व्यवहार में कठोर थे। रचनात्मक लेखन का राकेश के जीवन में बुनियादी महत्व था। उन्होंने जीवन को सम्मानपूर्वक जिया। 3 दिसम्बर 1972 को हृदय गति के रूक जाने से उनका देहावसान हो गया। उनकी आयु मात्र 48 वर्ष की थी। राकेश का अनुभव संसार सीमित था लेकिन उसे उन्होंने अपनी संपूर्ण ईमानदारी के साथ जीने और समझने का प्रयत्न किया।

साहित्यिक योगदान : मोहन राकेश स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी के रचनाकार हैं। स्वतंत्रता की शुरुआत देश के विभाजन के साथ हुई जिसका प्रभाव हमें उनके लेखन में भी दिखाई देता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद विकास की जो प्रक्रिया प्रारंभ हुई उसने मध्य वर्ग में आशाओं और आकांक्षाओं को जन्म दिया लेकिन उसके पूरे न होने से, मध्यवर्ग के एक हिस्से को कुंठित निराशावादी और आत्मग्रस्त भी बनाया। जीवन में ऊपर उठने और कुछ हासिल करने की आकांक्षा में मध्यवर्गीय व्यक्ति को स्वार्थी और जनता से विमुख बनाया। लेकिन आदर्श और मानव मूल्यों को लेकर इस वर्ग में अंतर्द्वंद्व भी चल रहा था। औपनिवेशिक शासन से लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था ने मध्यवर्ग और विशेषकर उसके बौद्धिक वर्ग के सम्मुख कई नई चुनौतियाँ प्रस्तुत कीं। राजसत्ता से क्या यह वर्ग वैसे ही विमुख रह सकता है या रहना उचित है? जीवन के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण क्या हो - रागपूर्ण या विरागपूर्ण? आधनिक शहरी समाज में जहाँ महिलाएँ भी चाहरदीवारी लांघ कर बाहर नौकरी करने लगी है क्या वहाँ स्त्री पुरुष संबंध पहले की तरह रह सकते हैं? ऐसे कई सवाल थे जो रचनाकार के रूप में मोहन राकेश के सामने मौजूद थे और उनके लेखन को समझने के लिए हमें इन पर भी विचार करना होगा।

साहित्य में वैयक्तिक समस्याओं, स्त्री-पुरूष संबंधों में आने वाले बदलाव, परंपरागत और नवीन मान्यताओं का द्वंद्व और उनकी अभिव्यक्ति, साथ ही योरोप के यथार्थवादी नाटककारों का प्रभाव भी राकेश पर कम नहीं पड़ा होगा। हेनरिक इब्सन (1828-1906) , बर्नार्डशा (1856-1950), चेखव (1860-1904), स्ट्रिंडवर्ग (1847-1911), यूजीन ओनील (1888-1943) जैसे

श्रेष्ठ नाटककार नाटकों में यथार्थवाद को स्थापित कर चुके थे। राकेश ने नाटक और अन्य साहित्यिक धाराओं में इस यथार्थवाद को अपनाकर उसे भारतीय संदर्भ में प्राणवान बनाया। राकेश के साहित्य में समाज का चित्रण पात्रों तक ही सीमित नहीं है। मनुष्य का उद्देश्य कभी भी व्यक्ति बनना नहीं होना चाहिए। राकेश का साहित्य मनुष्य का साहित्य है लेकिन मध्यवर्गीय मनुष्य का।

राकेश ने साहित्य की अनेक विधाओं में रचना की यथा उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, डायरी, संस्मरण आदि। मोहन राकेश 'नयी कहानी' आन्दोलन के प्रमुख कहानीकारों में से थे। राकेश ने स्वीकार किया है कि उनकी पीढ़ी ने यथार्थ के अपेक्षाकृत ठहरे हुए अर्थात वैयक्तिक और पारिवारिक रूप को अपनी रचनाओं में अधिक स्थान दिया है जो समूची पीढ़ी का सच नहीं है। राकेश की अधिकांश कहानियों का संबंध मुख्यतः स्त्री-पुरूष संबंधों पर आधारित है। उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं :

नाटक :'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'आधे-अधूरे' और 'पैरों तले की ज़मीन'
एकांकी संग्रह : 'अंडे के छिलके', 'बीज नाटक' और 'रात बीतने तक'
यात्रा संस्मरण :'आखिरी चट्टान'
निबंध संग्रह :'बकलम खुद' और 'परिवेश'
कहानी संग्रह :'इंसान का खण्डहर' और 'नये बादल'
उपन्यास : 'अंधेरे बंद कमरे', 'न आने वाला कल' और 'अंतराल'

राकेश का उदय हिंदी रंगमंच के उत्थान के लिए महत्वपूर्ण साबित हुआ। रंगमंच के लिए जो नाटक उन्होंने लिखे, उसका महत्व रंग आंदोलन में अद्वितीय है। उन्होंने तीन नाटकों -'आषाढ़ का एक दिन'(1958), 'लहरों के राजहंस' (1963) और'आधे-अधूरे' (1967) की रचना की। उनका एक अपूर्ण नाटक है, - 'पैरों तले की जमीन'। अब तक हिंदी नाटक और रंगमंच के बीच दरार नज़र आती थी राकेश ने अपने नाटकों के द्वारा उसे पाटने की कोशिश की।

घटनाओं के चयन, पात्रों के चरित्र चित्रण, संवादों के संयोजन में राकेश बडे सतर्क थे।'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' दोनों नाटकों के ऐतिहासिक परिवेश को उन्होंने आज के साथ अत्यंत रचनात्मक कौशल के साथ जोड़ा है। 'आषाढ़ का एक दिन' मे राजकीय आश्रय तथा 'लहरों के राजहंस' में राग और विराग का द्वंद्व आधुनिक युग में स्त्री-पुरुष के अलग-अलग दृष्टिकोण और उससे उनके व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव के रूप में व्यक्त हुआ है। राकेश को साहित्यिक और रंगमंचीय नाटक जैसी भ्रामक धारणाओं को तोड़ने के लिए लंबे समय तक याद किया जायेगा। 'आषाढ़ का एक दिन' को संगीत नाटक अकादमी से सर्वश्रेष्ठ नाटक का पुरस्कार प्राप्त हुआ।

कब लिखी गई : मोहन राकेश का तीसरा नाटक 'आधे-अधूरे' 19 और 26 जनवरी तथा 2 फरवरी 1969 के 'धर्मयुग' में प्रकाशित हुआ था। राकेश के पहले दोनों नाटकों की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक थी। जबकि 'आधे-अधूरे' में राकेश समकालीन यथार्थ को नाटक का विषय बनाते हैं। उसकी पृष्ठभूमि में समकालीन मध्यवर्गीय शहरी जीवन है।

क्यों लिखी गई : समकालीन जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए 'आधे-अधूरे' क रचना हुई। आधुनिक पूँजीवादी सभ्यता का शिकार मनुष्य का जीवन और घर-परिवार किर तरह टूट बिखर रहा है इसी को मोहन राकेश ने अपने इस नाटक का विषय बनाया है। घर परिवार की धुरी स्त्री-पुरुष के संबंधों पर टिकी होती है इसलिए इस नाटक में भी स्त्री-पुरु संबंधों को समस्या के केंद्र में रखा गया है। परिवार में पति-पत्नी के तनावपूर्ण संबंधों का अस बच्चों पर भी दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में घर-परिवार का जो यथार्थ सामने आता है उ राकेश ने गहरी संवेदना के साथ नाटक में प्रस्तुत किया है। वे इस नाटक के माध्यम से शाय यह बताना चाहते हैं कि हमारे सामाजिक जीवन में आने वाले बदलावों का हमारे वैयक्तिव

और पारिवारिक जीवन पर असर अवश्य होगा। यह हमारे पर है कि हम इन बदलावों को किस तरह ग्रहण करते हैं।

महत्व : 'आधे-अधूरे' नाटक 'मध्यवर्गीय शुष्कता और विनाशकारी रिक्तता' को सामने लाता है। नाटक में विकृति मूल्यों, भ्रांतियों और दोगली नैतिकता का निर्भयता से अनावरण किया गया है। यहाँ सिंहानिया जैसे भ्रष्ट एवं असंस्कृत व्यवसायी है, जिसके लिए हर काम महज व्यवसाय है। 'आधे-अधूरे' का महत्व मध्यवर्गीय जीवन में चलने-वाले आत्म-प्रदर्शन, कुंठा और आकांक्षा के नग्न रूप को सामने लाना है। नाटक में एक टूटता हुआ घर है जिसे बचाने की कोशिश करती हुई नायिका खुद भी टूटती जाती है और घर को भी नहीं बचा पाती। टूटता हुआ घर टूटने के बावजूद विवशता और निर्भरता की मजबूरी के कारण फिर भी बना रहता है। तमाम तरह के समकालीन जीवन के प्रश्नों को राकेश ने अपनी इस रचना में स्थान दिया है।

रंगमंचीय संभावना की दृष्टि से इस नाटक का मूल्यांकन करें तो पता लगेगा कि शायद ही किसी प्रमुख रंगमंडली ने इसे न खेला हो। रंग तकनीकों के नये-नये प्रयोगों के साथ इस नाटक की सैकड़ों प्रस्तुतियाँ हुई हैं। निर्देशकों के लिए यह नाटक कसौटी है।

अंतर्वस्तु : स्त्री पुरूष संबंधों को लेकर राकेश जो कुछ कहना चाहते हैं, 'आधे-अधूरे' में उसे सीधे-सीधे कह देते हैं। एक विघटित होते परिवार की कहानी है। कथानक तीस घंटों का है। नाटक के प्रारंभिक दृश्यों से पता चलता है कि गृहस्वामी महेन्द्र नाथ बेकार है। गृहस्वामिनी सावित्री परिवार चलाने के लिए नौकरी करती है। लड़का अशोक नौकरी की तलाश में है। सावित्री को ऐसे पुरुष की तलाश है जो उसके पति की तरह आधा-अधूरा न हो। यह तलाश उसके अधूरे मन को भरने के लिए है। लेकिन विडम्बना यह है कि कई पुरुषों के संपर्क में आने के बावजूद उसके अधूरेपन का एहसास मिटता नहीं क्योंकि वे सभी पुरुष सावित्री की नज़र में महेंद्रनाथ की तरह किसी न किसी रूप में आधे-अधूरे हैं। सावित्री की बेटी बिन्नी का अपने पति के घर को त्याग कर वापस घर लौट आना और बेटे अशोक की बेरोजगारी जैसे सावित्री और महेन्द्रनाथ के जीवन की ही पुनरावृति है। तनाव, व्यर्थता और असंगतपूर्ण स्थितियों की नयी शुरुआत है। नाटक की बहुस्तरीयता इसमें नहीं है। नाटक का अनुभव क्षेत्र बहुत छोटा संकुचित और शहरी मध्यवर्ग के व्यक्तियों तक सीमित रह जाता है।

भाषा-शैली : 'आधे-अधूरे' पूरी तरह से यथार्थवादी शिल्प का नाटक है। भारतीय नाटक के सूत्रधार शैली की तरह काले सूटवाला आदमी नाटक की प्रस्तावना करता है। यह राकेश की मौलिक उद्भावना है। नाटक में पुरुष एक, दो, तीन, और चार के रूप में एक ही आदमी से हमारी भेंट कई बार होती है। मोहन राकेश इसके माध्यम से यह बताना चाहते हैं कि मध्यवर्ग के लोग अपनी अंतःप्रवृत्ति में लगभग एक से होते हैं इसलिए ये पात्र नामवाचक न होकर जातिवाचक हैं। नाटक में लेखक ने ज्यादा से ज्यादा रंग संकेत देकर उसकी अभिनेयता को सुनिश्चित करने का प्रयत्न किया है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि निर्देशक के लिए उसमें ज्यादा परिवर्तन करने की गुंजाइश नहीं रहती बल्कि इसके विपरीत मोहन राकेश के नाटकों की यह विशेषता है कि वे प्रतिभाशाली रंग निर्देशकों को नये प्रयोग करने के अवसर प्रदान करते हैं। इस नाटक की भाषा पात्रों की सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक स्थितियों से निर्धारित हुई है। लेकिन बोल-चाल की टोन शुरू से अंत तक बनी रहती है। संवादों में कसाव और चुस्ती का सटीक प्रयोग है। अधूरे वाक्य, शब्दों के बीच मौन और नाटकीय तनाव से निकलती भाषा हृदय को झकझोर देने वाली है। नाटक में जहाँ बोलचाल की भाषा की लय और उसकी बनावट है, वहीं दूसरी ओर सहज प्रवाह भी है।

'आधे-अधूरे' को कैसे पढ़ा जाए

मोहन राकेश के इस तीसरे नाटक का कथानक समकालीन जीवन यथार्थ पर आधारित है। इसलिए इस पर विचार भी इसी संदर्भ में करना होगा। आप इकाइयों में पढ़ेंगे कि यह नाटक महानगरीय मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं को आधार लेकर रचा गया है इसलिए आपको यह

समझना होगा कि इस मध्यवर्ग की पहचान क्या है और यह वर्ग किन-किन समस्याओं से ग्रसित है। इसके साथ ही आपको इस ओर भी ध्यान देना होगा कि नाटक के दो केंद्रीय पात्र महेंद्रनाथ और सावित्री जो पति-पत्नी हैं उनके संबंधों में किस तरह के बदलाव हो रहे हैं और क्यों? वह कौन सा अधूरापन है जिसे सावित्री दूसरे पुरुष मित्रों के माध्यम से भरना चाहती है और क्यों वह नाकामयाब रहती है। पूरे परिवार में कोई भी व्यक्ति संतुष्ट क्यों नहीं है? ऐसी कौन-सी काली छाया है जो उस घर पर छायी हुई है। नाटक के कथ्य को इन्हीं सब सवालों के संदर्भ में आप समझने का प्रयत्न करें।

मोहन राकेश का यह नाटक मंच पर पर्याप्त सफल हुआ। उनके पहले के नाटकों की तरह यह भी मंच की रचनात्मक संभावनाओं को ध्यान में रखकर लिखा गया था। इसमें यदि यह ध्यान रखा गया था कि नाटक को मंचित करते हुए दर्शकों के नाटक के साथ जुड़ाव में कोई अवरोध उत्पन्न न हो, तो, दूसरी ओर, इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि इसमें नवीनता का आभास हो। यही कारण है कि इसमें सभी पुरुष पात्र जिन्हें एक, दो, तीन, चार की संख्या द्वारा बताया गया है वे सभी पुरुषों के एक से होने को अभिव्यक्त करते हैं।

नाटक की भाषा बोलचाल की है और लेखक ने इस बात का ध्यान रखा है कि पात्र की सामाजिक और मानसिक स्थितियों के अनुरूप संवाद हो। आपको नाटक पर विचार करते हुए इस पक्ष पर भी गहनता से सोचना होगा। ये कुछ पक्ष हैं जिन पर विचार करते हुए आप 'आधे-अधूरे' को अच्छी तरह समझ सकते हैं।

शब्दार्थ और संदर्भ

ख्वार : तिरस्कृत

खोह : गुफा

हलाक : मारना

रबर स्टैंप : नाटक में ऐसे व्यक्तित्व का प्रतीक है जिसकी अपनी सोच-समझ न हो और जो दूसरे के इशारे पर काम करता हो।

आदिम बनमानुष : मनुष्य की पाशविक प्रवृति का प्रतीक है।

पाजामा : इस नाटक में कमरे में ऐसे ही पड़ा हुआ महेन्द्रनाथ का पाजामा उसके व्यक्तित्व का प्रतीक है जिसकी कोई बुनियाद नहीं है।

एक प्लेट में दो जले हुए टोस्ट इस बात का प्रतीक है कि एक घर में रहते हुए भी पति और पत्नी का व्यवहार एक-दूसरे के प्रति सौहार्दपूर्ण नहीं है और टोस्ट का जला हुआ होना उनके बीच की कटुता को दर्शाता है। फिर भी वे प्लेट में पड़े हुए टोस्ट की तरह साथ-साथ रहने और जीने को विवश हैं।

ऐलिजाबेथ टेलर, शर्ले मैक्लेन, जीना लोलोब्रिजिदा : साठ के दशक की हॉलीवुड की प्रसिद्ध अभिनेत्रियाँ।

व्याख्या के स्थल

1) मैंने कहा था, यह नाटक भी मेरी ही तरह अनिश्चित है। उसका कारण भी यही है कि मैं इसमें हूँ और मेरे होने से ही सब कुछ इसमें निर्धारित या अनिर्धारित है। एक विशेष परिवार, उसकी विशेष परिस्थितियाँ! परिवार दूसरा होने से परिस्थितियाँ बदल जाती, मैं वही रहता। इसी तरह सब कुछ निर्धारित करता। इस परिवार की स्त्री के स्थान पर कोई दूसरी स्त्री किसी दूसरी तरह से मुझे झेलती या वह स्त्री मेरी भूमिका ले लेती और मैं उसकी भूमिका लेकर उसे झेलता। नाटक अंत तक फिर भी इतना ही कठिन होता कि इसमें मुख्य भूमिका किसकी थी - मेरी, उस स्त्री की, परिस्थितियों की, या तीनों के बीच से उठते कुछ सवालों की।

2) कई-कई दिनों के लिए अपने को उससे काट लेती हूँ। पर धीरे-धीरे हर चीज़ फिर उसी ढर्रे पर लौट आती है। सब-कुछ फिर उसी तरह होने लगता है जब तक कि हम... जब तक कि हम नए सिरे से उसी खोह में नही पहुँच जाते। मैं यहाँ आती हूँ...यहाँ आती हूँ तो सिर्फ़ इसीलिए कि....

3) हर-एक के पास एक-न-एक वजह होती है। इसने इसलिए कहा था। उसने उसलिए कहा था। मैं जानना चाहता हूँ कि मेरी क्या यही हैसियत है इस घर में कि जो जब जिस वजह से जो भी कह दे मैं चुपचाप सुन लिया करूँ? हर वक्त की धतकार, हर वक्त की कोंच, बस यही कमाई है यहाँ मेरी इतने सालों की?

4) अपनी ज़िंदगी चौपट करने का ज़िम्मेदार मैं हूँ। तुम्हारी ज़िंदगी चौपट करने का ज़िम्मेदार मैं हूँ। इन सबकी ज़िंदगियाँ चौपट करने का ज़िम्मेदार मैं हूँ। फिर भी मैं इस घर से चिपका हूँ क्योंकि अंदर से मैं आराम-तलब हूँ, घरघुसरा हूँ, मेरी हड्डियों में ज़ंग लगा है।

5) इसलिए कि किसी तरह इस घर का कुछ बन सके, कि मेरे अकेली के ऊपर बहुत बोझ है इस घर का। जिसे कोई और भी मेरे साथ ढोने वाला हो सके। अगर मैं कुछ खास लोगों के साथ संबंध बनाकर रखना चाहती हूँ तो अपने लिए नहीं, तुम लोगों के लिए। पर तुम लोग इससे छोटे होते हो, तो मैं छोड़ दूँगी कोशिश। हाँ, इतना कहकर कि मैं अकेले दम इस घर की ज़िम्मेदारयाँ नहीं उठाती रह सकती और एक आदमी है जो घर का सारा पैसा डुबोकर सालों से हाथ पर हाथ धरे बैठा है। दूसरा अपनी कोशिश से कुछ करना तो दूर, मेरे सिर फोड़ने से भी किसी ठिकाने लगना अपना अपमान समझता है। ऐसे में मुझसे भी नहीं निभ सकता। जब और किसी को यहाँ दर्द नहीं किसी चीज़ का, तो अकेली मैं ही क्यों अपने को चीथती रहूँ रात-दिन? मैं भी क्यों न सुर्खरू होकर बैठ रहूँ अपनी जगह? उससे तो तुममें से कोई छोटा नहीं होगा।

6) मैं यहाँ थी, तो मुझे कई बार लगता था कि मैं एक घर में नहीं, चिड़ियाघर के एक पिंजरे में रहती हूँ जहाँ... आप शायद सोच भी नहीं सकते कि क्या-क्या होता रहा है यहाँ। डैडी का चीखते हुए ममा के कपड़े तार-तार कर देना... उनके मुँह पर पट्टी बाँधकर उन्हें बंद कमरे में पीटना... खींचते हुए गुसलखाने में कमोड पर ले जाकर... **(सिहरकर)** मैं तो बयान भी नहीं कर सकती कि कितने-कितने भयानक दृश्य देखे हैं इस घर में मैंने। कोई भी बाहर का आदमी उस सबको देखता-जानता, तो यही कहता कि क्यों नहीं बहुत पहले ही ये लोग...?

7) मुझे उस असलियत की बात करने दीजिए जिसे मैं जानती हूँ।... एक आदमी है। घर बसाता है। क्यों बसाता है? एक ज़रूरत पूरी करने के लिए। कौन-सी ज़रूरत? अपने अंदर के किसी उसको... एक अधूरापन कह लीजिए उसे... उसको भर सकने की। इस तरह उसे अपने लिए... अपने में... पूरा होना होता है। किन्हीं दूसरों को पूरा करते रहने में ही ज़िंदगी नहीं काटनी होती। पर आपके महेंद्र के लिए ज़िंदगी का मतलब रहा है... जैसे सिर्फ़ दूसरों के खाली खाने भरने की ही एक चीज़ है वह। जो कुछ वे दूसरे उससे चाहते हैं, उम्मीद करते हैं... या जिस तरह वे सोचते हैं उनकी ज़िंदगी में उसका इस्तेमाल हो सकता है।

8) वह नफ़रत करती है इस सबसे - इस आदमी के ऐसा होने से। वह एक पूरा आदमी चाहती है अपने लिए एक... पूरा... आदमी। गला फाडकर वह यह बात कहती है। कभी इस आदमी को ही वह आदमी बना सकने की कोशिश करती है। कभी तड़पकर अपने को इससे अलग कर लेना चाहती है। पर अगर उसकी कोशिशों से थोड़ा भी फ़र्क पड़ने लगता है इस आदमी में, तो दोस्तों में इनका ग़म मनाया जाने लगता है।

9) असल बात इतनी ही कि महेंद्र की जगह इनमें से कोई भी आदमी होता तुम्हारी ज़िंदगी में, तो साल-दो-साल बाद तुम यही महसूस करतीं कि तुमने ग़लत आदमी से शादी कर ली है। उसकी ज़िंदगी में भी ऐसे ही कोई महेंद्र, कोई जुनेजा, कोई शिवजीत या कोई जगमोहन होता जिसकी वजह से तुम यही सब सोचतीं, यही सब महसूस करतीं। क्योंकि तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है - कितना-कुछ एक साथ होकर, कितना-कुछ एक साथ पाकर और कितना-कुछ एक साथ ओढ़कर जीना। वह उतना-कुछ कभी तुम्हें किसी एक जगह न मिल पाता, इसलिए जिस-किसी के साथ भी ज़िंदगी शुरू करतीं, तुम हमेशा हतनी ही खाली, इतनी ही बेचैन बनी रहतीं। वह आदमी भी इसी तरह तुम्हें अपने आसपास सिर पटकता और कपड़े फाड़ता नज़र आता और तुम...

10) वह भी देखा है। देखा है कि जिस मुट्ठी में तुम कितना-कुछ एक साथ भर लेना चाहती थीं, उसमें जो था वह भी धीरे-धीरे बाहर फिसलता गया है कि तुम्हारे मन में लगातार एक डर समाता गया है जिसके मारे कभी तुम घर का दामन थामती रही हो, कभी बाहर का और कि वह डर एक दहशत में बदल गया। जिस दिन तुम्हें एक बहुत बड़ा झटका खाना पड़ा... अपनी आख़िरी कोशिश में।

11) इसलिए कि आज वह अपने को बिलकुल बेसहारा समझता है। उसके मन में यह विश्वास बिठा दिया है तुमने कि सब कुछ होने पर भी उसके लिए ज़िंदगी में तुम्हारे सिवा कोई चारा, कोई उपाय नहीं। और ऐसा क्या इसीलिए नहीं किया तुमने कि ज़िंदगी में और कुछ हासिल न हो, तो कम-से-कम यह नामुराद मोहरा तो हाथ में बना ही रहे?

संदर्भ सहित व्याख्या (उदाहरण के लिए)

असल बात है.....और तुम..... (व्याख्या सं0 9)

संदर्भ : संदर्भ में आपको उपर्युक्त गद्यांश पढ़कर यह बताना है कि इसे किस कृति में से लिया गया है। जैसा कि स्पष्ट है कि उपर्युक्त गद्यांश मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' में से है। आपको यह भी बताना है कि यह कथन किसका है और किससे कहा गया है। आपको यह भी बताना है कि यह बात क्यों कही गई है यानी वे कौन-सी स्थितियाँ हैं जिनसे प्रेरित होकर यह बात कही गई है। ऐसा लिखने पर आप उक्त गद्यांश का संदर्भ बता सकेंगे।

यहाँ नाटक के एक पात्र पुरुष चार (जिसे जुनेजा कहा गया है और जो स्त्री पात्र सावित्री के पति महेंद्रनाथ का बचपन का दोस्त है) के कथन को उद्धृत किया गया है जो स्त्री पात्र सावित्री से बातचीत के दौरान कहता है। दोनों एक-दूसरे पर ये आरोप लगा रहे हैं कि महेंद्रनाथ की वर्तमान स्थिति का जिम्मेदार वह नहीं बल्कि दूसरा है।

व्याख्या : जुनेजा सावित्री के आसमान छूती आकांक्षा पर चोट करता है। सावित्री जो घर के विघटन की सारी जिम्मेदारी महेन्द्रनाथ पर डालती है, जुनेजा को भी महेंद्रनाथ की बरबादी के लिए जिम्मेदार ठहराती है। जुनेजा ने इस घर को बडी नजदीक से देखा और अनुभव किया था। उसकी टिप्पणी से सावित्री के चरित्र का एक महत्वपूर्ण पहलू हमारे सामने उभरकर आता है।

जुनेजा सावित्री की महत्वाकांक्षा को समझता था। इसी महत्वाकांक्षा की बड़ी भूमिका है, सावित्री को भटकाने में। असल में व्यक्ति की सीमा होती है। उसमें कुछ गुण होते हैं तो दुर्गण भी होते हैं। सावित्री एक शिक्षित नौकरीपेशा स्त्री है इसलिए वह यथास्थिति से संतुष्ट नहीं रह सकती। पुरुष चार के शब्दों में उसके लिए जीने का मतलब है 'कितना कुछ एक साथ होकर कितना कुछ एक साथ पाकर और कितना कुछ एक साथ ओढ़कर जीना।' यह सावित्री की अकेले की महत्वकांक्षा नहीं है बल्कि वर्तमान युग में शिक्षित स्त्री के जीवन में और जीवन के प्रति दृष्टिकोण में जो बदलाव आ रहे हैं उसको बताता है। जुनेजा इस बात को समझ नहीं

पाता यहाँ तक कि स्वयं सावित्री भी अपनी बेचैनी और अधूरेपन को नहीं समझ पाती। यही कारण है कि वह लगातार इधर से उधर भटकती रहती है। एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक जाना इसी बात का सूचक है। शायद लेखक यह कहना चाहता है कि सावित्री का हमेशा नये व्यक्ति की तलाश करना परिवार के लिए स्वस्थ लक्षण नहीं है। मध्यवर्गीय जीवन की विडंबना यही है कि वह ऊपर उठने की कोशिश में नीचे गिरने के लिए विवश है।'आधे-अधूरे' नाटक के इस अंश को उपर्युक्त बातों के संदर्भ में आपको व्याख्यायित करना है।

विशेष : नाटक के संवादों में भाषा का बड़ा महत्व होता है। कौन पात्र किससे क्या और क्यों कह रहा है और कहते हुए उसकी मनःस्थिति किस तरह की है उससे उस पात्र की भाषा निर्धारित होगी। जब आप इस संवाद की भाषा पर विचार करें तो इन बातों को ध्यान में रखते हुए यह तय करें कि संवाद की भाषा की विशेषताएँ क्या-क्या हैं। इसे विशेष में उल्लिखित करें।

संदर्भ पुस्तकें

जयदेव तनेजा : *मोहन राकेश : रंगशिल्प और प्रदर्शन,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।
नेमिचंद्र जैन (संपादक) : *मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक,* राजपाल एंड संस, दिल्ली।
गिरीश रस्तोगी : *मोहन राकेश और उनके नाटक,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
प्रतिभा अग्रवाल : *मोहन राकेश, साहित्य अकादमी,* नई दिल्ली।
सिद्धनाथ कुमार : *आधे-अधूरे : संवेदना और शिल्प,* सरोज प्रकाशन, राँची।

परिशिष्ट 2 : धर्मवीर भारती और 'अंधायुग'

धर्मवीर भारती की रचनाधर्मिता के मूल में समग्र मानवीय दृष्टि की परिकल्पना है। वे साहित्य को अपने जीवन के सीमित दायरे में नहीं देखते जैसा कि उनके कई समकालीन साहित्यकारों में देखने को मिलता है। उनकी प्राणवान अनुभूति साहित्य को व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करती है। साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में रचनाओं का सृजन कर उन्होंने अपनी रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। वे कवि, नाटककार, कथाकार और उपन्यासकार थे।

धर्मवीर भारती का जन्म 25 दिसम्बर 1926 ई. को इलाहाबाद में हुआ। उनके पिता का नाम चिरंजीवी लाल वर्मा और माता का नाम चंदादेवी था। अपने बचपन के लगभग दो वर्ष आजमगढ़ और मऊनाथ भंजन में बिताकर जब वे अपने माता-पिता के साथ प्रयाग लौटे तब उनकी शिक्षा का शुभारंभ घर पर ही हुआ। डी.ए.वी. हाई स्कूल में कक्षा चार से उन्होंने पढ़ना आरंभ किया। जब वे आठवीं कक्षा में थे तभी उनके पिता का स्वगर्वास हो गया। उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। 1940 में हाई स्कूल और 1942 ई. में स्थानीय कायस्थ पाठशाला से इंटरमीटियेट की परीक्षा उतीर्ण की। 1942 में राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण उनकी शिक्षा का क्रम टूट गया, पर समाप्त नहीं हुआ। प्रयाग में बसे मामा श्री अभय कृष्ण जौहरी की छत्रछाया एवं प्रेरणा से उच्च शिक्षा प्राप्त की। स्नातक की पढ़ाई के लिए उन्होंने ट्यूशन की। सर्वाधिक अध्ययनशील छात्र होने के कारण बी.ए. में उन्होंने चिंतामणि घोष स्वर्ण पदक प्राप्त किया। 1947 में प्रथम स्थान के साथ एम.ए. किया। एम.ए.की पढ़ाई का खर्च उन्होंने पदमकांत मालवीय द्वारा संपादित 'अभ्युदय' में पार्ट-टाइम काम करके निकाला। डॉ.धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन में उन्होंने सिद्ध साहित्य पर पी.एच.डी. प्राप्त की।

दो वर्ष तक इलाचंद्र जोशी द्वारा संपादित 'संगम' में काम किया। हिन्दुस्तान एकेडमी में उपसचिव के पद पर भी उन्होंने सफलता पूर्वक कार्य किया। 1960 में कुछ समय के लिए प्रयाग विश्वविद्यालय में अध्यापन करने के बाद वे 'टाइम्स ऑफ इंडिया' समूह के हिंदी साप्ताहिक 'धर्मयुग' के संपादक होकर बंबई चले गए। लगभग 27 वर्षों तक उन्होंने 'धर्मयुग' का संपादन किया और उसे हिदीं की श्रेष्ठ साप्ताहिक पत्रिका के रूप में प्रतिष्ठित किया। 'धर्मयुग' के 29 नवंबर 1987 के अंक के साथ उन्होंने संपादक के कार्य-भार से अवकाश प्रहण किया और फिर मुक्त लेखक के रूप में इसी पत्रिका में कुछ समय तक 'शब्दिता' नामक एक नियमित स्तंभ भी लिखा।

इसी बीच उन्होंने अनेक देशों की यात्राऐं भी कीं। 1971 में भारतीय सेना के साथ बांग्लादेश के युद्ध के मोर्चे पर जाकर उन्होंने वहाँ के रोमांचक अनुभव लिखे।

1967 में धर्मवीर भारती संगीत नाटक अकादमी के सदस्य मनोनीत किए गए। 1972 में पद्मश्री से अलंकृत हुए और 1988 में इन्हें केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी द्वारा सर्वश्रेष्ठ नाटककार के रूप में पुरस्कृत किया गया। इसके बाद इन्हें उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान ने 'भारत-भारती' और महराष्ट्र सरकार ने 'गौरव' पुरस्कार से सम्मानित किया। 1992 में इन्हें साहित्य साधना सम्मान और 1994 में व्यास सम्मान से विभूषित किया गया।

इलाहाबाद की साहित्यिक संस्था 'परिमल' के वे सक्रिय सदस्य रहे। भारती अज्ञेय द्वारा संपादित 'दूसरा सप्तक' के भी कवि थे। उन्होंने बहुत अधिक नहीं लिखा। पर जितना भी लिखा वह हिंदी साहित्य में अमूल्य थाती बना। उन्होंने अपने रचनात्मक कर्म से साहित्य में नई जमीन तलाश की। लगभग साल भर लंबी बीमारी के बाद उनका 4 सितंबर 1997 को मुबंई में निधन हो गया।

साहित्यिक योगदान : द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों और स्वातन्त्र्योत्तर राष्ट्रीय स्थितियों का गहरा प्रभाव भारती के लेखन पर दिखाई देता है। उनका रूझान साहित्य की आधुनिकतावादी धारा की तरफ था और वे उन लेखकों में थे जिनके बारे में मुक्तिबोध का कहना था कि वे अपनी प्रेरणा शीतयुद्ध की साम्राज्यवादी विचारधारा से ग्रहण करते थे। उनके साहित्य पर अस्तित्ववादी के प्रभाव की चर्चा भी की जाती रही है।

भारती की प्रतिमा विविधवर्णी थी। उन्होंने समान अधिकार से साहित्य की अनेक विधाओं को अपनाया। भारती ने अनेक प्रभावपूर्ण गीतों और सशक्त कविताओं की रचना की। उनमें 'ठंडा लोहा', 'सात गीत वर्ष', 'कनुप्रिया' और 'सपना अभी भी' प्रमुख हैं। अनूठी कल्पना और दर्शन, परंपरा और आधुनिकता से उनकी काव्यानुभूति का रसायन तैयार हुआ है।

'नदी प्यासी थी' उनका एकांकी संग्रह है। 'अंधायुग' काव्य और नाटक दोनों धरातल पर सफलता का प्रतिमान है। शब्द और अभिनय का बेजोड़ संतुलन भारती ने इसमें स्थापित किया है।

धर्मवीर भारती के उपन्यासों में 'गुनाहों का देवता' (1949) को अपार लोकप्रियता मिली। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' को कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से सराहा गया। 'गुनाहों का देवता' में लेखक ने मानव मन की गहराइयों में उतर कर इस मनोवैज्ञानिक सत्य को खोज निकाला है कि प्रेम और वासना वास्तव में एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं। यह रचना अपने रोमांटिक मिजाज के लिए अधिक जानी गई। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में कथानायक और उपन्यास के प्रमुख पात्र के माध्यम से निम्न मध्यवर्ग की मजबूरी की त्रासद कथा कही गई है। उनके कहानी संग्रहों में 'स्वर्ग और पृथ्वी' को प्रमुखता मिली है। 'बंद गली का आखिरी मकान' श्रेष्ठ कहानियों में से एक है। वस्तुतः सृजन के धरातल पर उनकी दृष्टि व्यापक और प्रगतिशील है। भारती परंपरा पोषित सांस्कृतिक चेतना और हठधर्मी संकीर्णता का अनुसरण नहीं करते।

डॉ. भारती ने जिस रचनात्मक ऊर्जा के साथ ललित साहित्य की रचना की उसी ऊर्जा से साहित्यिक सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि विषयों पर चिन्तनपरक गंभीर लेखन भी किया। 'ठेले पर हिमालय', 'कहनी अनकहनी', 'पश्यंती' जैसी पुस्तकों में संकलित निबंधों, संस्मरणों, डायरी के पन्नों, व्यंग्यात्मक लेखों को पढ़ते समय भारती का बहुमुखी अध्ययन, चिंतन की गंभीरता, विश्लेषण की सूक्ष्मता, विश्व साहित्य की महान रचनाओं का जीवंत संदर्भ हमें सुखद आश्चर्य में डाल देता है।

भारती का साहित्यिक व्यक्तित्व परंपरा में डूबा हुआ है इसलिए वे पश्चिम की साहित्यिक कृतियों, विचारधाराओं और अनुभव परंपराओं से प्रभावित तो होते हैं परंतु अपने विवेकपूर्ण संयम और संतुलन के साथ। 'पश्यंती' के विचारोत्तेजक निबंधों में भारती की सजग, संतुलित और प्रखर चिंतन की समग्रता प्रमाणित होती है।

भारती ने अनुवाद के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय योगदान किया है। आस्कर वाडल्ड की आठ महत्वपूर्ण कहनियों का प्रभावपूर्ण अनुवाद भारती जी ने प्रस्तुत किया। विभिन्न देशों की कविताओं का हिन्दी अनुवाद का अनूठा संकलन 'देशांतर' नाम से प्रकाशित हुआ। भारती का साहित्य अनेक प्रकार के विरोधों को समन्वित करके उच्च और उदात्त धरातल की ओर गतिशील होने वाला है।

कब लिखी गई : 'अंधायुग' का रचनाकाल 1954 ई. है। 'अंधायुग' से पूर्व भारती की दो महत्वपूर्ण कृतियों का प्रकाशन हो चुका था, 'गुनाहों का देवता' और 'ठंडा लोहा'। दूसरा सप्तक में भी उनकी कविताएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। इस कृति में उन्होंने जीवन के व्यापक प्रश्नों को कला का प्रश्न बनाया है। इसी में उसकी प्रासंगिकता और उत्कर्षता का रहस्य छिपा हुआ है।

क्यों लिखी गई : जब वर्तमान में आस्था खंडित होती है, तब उसे पुनः प्राप्त करने के लिए मिथक की ओर लौटने की कोशिश रचनाकारों में दिखाई देती है। मिथक के द्वारा संस्कृति अपना नवीकरण करती है। द्वितीय महायुद्ध के संत्रास से पीड़ित पीढ़ी के अनुभव और सोच को अभिव्यक्त करने के लिए नाटककार ने महाभारत के अंतिम भाग को अपने काव्य के कथानक का आधार बनाया है। इस कृति में व्यक्ति ही नहीं मानवीय स्थिति की भी ट्रेजेडी है।

रचना का महत्व : 'अंधायुग' श्रेष्ठ काव्य और उत्तम नाटक दोनों एक साथ है। दोनों तत्व एक-दूसरे को पोषित करते हैं। इसमें महाभारत के कथानक की नई मौलिक वैचारिक और सैद्धांतिक संकल्पनाएँ की गई हैं और उनको नये युग सापेक्ष संबंधो में देखा गया है। चरित्रों के माध्यम से जीवन की विभिन्न संदृष्टियों को व्यक्त करते हुए विराट जीवन की झाँकी प्रस्तुत करना लेखक की महती प्रतिभा का प्रमाण है। घोर अव्यवस्था, मूल्यहीनता और अंधकार के बीच विदुर, वृद्ध व्याध और कृष्ण के माध्यम से मानवीय आस्था को वाणी दी गई है। आजादी के बाद का सत्ता संघर्ष, भ्रष्टाचार, मूल्यांधता और आम आदमी का मोहभंग 'अंधायुग' का सामयिक संदर्भ है। इस कृति में अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र परमाणु संहार का, संजय की तटस्थता भारतीय विदेशनीति का और युधिष्ठिर की आत्म-ग्लानि में स्वातंत्र्योत्तर गाँधी की छाप का आभास मिलता है। सारभूत रूप में धर्मवीर भारती का कहना है मनुष्य की सृजनात्मकता में आस्था ही वह तत्व है जो ट्रेजेडी को भयावह और एकांगी नहीं बनने देता है। अनेक अर्थ व्यंजित करने की क्षमता 'अंधायुग' की श्रेष्ठता का प्रमाण है।

अंतर्वस्तु क्या है : 'अंघायुग' का आरंभ मंगलाचरण और उद्घोषणा से होता है। पहले अंक का आरंभ कथा गायन से होता है और दर्शकों को उन प्रश्नों का संकेत मिल जाता है जो इस काव्यनाटक की रचना के आधार हैं। 'अंधायुग' में पहले अंक में पूर्व-कथा का ज्ञान होता है और संजय द्वारा दिखलाये जाने वाले युद्ध समाचार में जिज्ञासा है। दूसरे अंक में अश्वत्थामा का स्वालाप से उसकी कुंठा और संत्रास का पता मिलता है। वृद्ध की हत्या से कार्यव्यापार में सघनता आती है। तीसरे अंक में दैत्याकर योद्धा का मायावी रूप, युयुत्सु-गांधारी प्रसंग की विडंबना, गूँगे सैनिक का प्रसंग, दुर्योधन और भीम के द्वंद्व युद्ध के परिणाम के प्रति दर्शक-पाठक में जिज्ञासा का संचार होता है। अश्वत्थामा द्वारा अर्द्ध-सत्य की प्राप्ति तथा उसकी प्रतिशोध-प्रतिज्ञा के साथ नाटक अपने चरम पर पहुँचता है। अंतराल में प्रेतलोक सा वातावरण है। चौथे अंक के आरंभ में गांधारी के पाषाण रूप से दर्शक प्रभावित होता है। अश्वत्थामा और अर्जुन के ब्रह्मास्त्र युद्ध से क्रिया व्यापार में तीव्रता लक्षित होती है। दुर्योधन के कंकाल तथा अश्वत्थामा के प्रति कृष्ण के अन्याय के विरूद्ध गांधारी के शाप के साथ नाटक का कार्य व्यापार तीव्र हो उठता है। कृष्ण द्वारा गांधारी के शाप को शांत भाव से स्वीकार करना दर्शक मन में कृष्ण के प्रति उदात्त भावना को खंडित होने से बचाता है। पाँचवा अंक युधिष्ठिर की चिंता, तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का वर्णन, युयुत्सु का, धृतराष्ट्र तथा गांधारी का आत्मदाह इत्यादि सभी प्रसंग लगभग वर्णनात्मक हैं। समापन में प्रभु की मृत्यु होती है। युयुत्सु और अश्वत्थामा की परिणति क्या होगी इस प्रश्न को गंभीरता से उठाया गया है।

भाषा शैली और अभिनेयता : 'अंधायुग' ऐसी नाट्य कृति है जिसकी नाट्य संरचना में कई प्रकार की नाट्य शैलियों का समन्वय है। इस नाट्य शैली में कुछ तत्व संस्कृत नाट्य परंपरा से, कुछ पाश्चात्य से और कुछ लोक नाट्य से लिए गए हैं। इस परंपरा के मंचन के लिए नाटककार ने विराट मंच की परिकल्पना की है। इसे देश और विदेश में जितनी रंगशैलियों एवं व्याख्याओं के साथ पेश किया गया है वह अपने आप में कीर्तिमान है। 'अंधायुग' पद्य नाटक है। उसमें काव्यात्मकता का सुंदर प्रयोग है। भाषा, ध्वनि और बिंब का सौन्दर्य अदभुत है। नाटकीय मौन का सार्थक प्रयोग गांधारी के संवादों में देखने को मिलता है। संवाद मुक्त छंद में है और अनेक स्थानों पर नाटकार ने पद्य का आभास देने के साथ समासयुक्त गद्य का भी प्रयोग किया है। महाभारत की कथा पर आधारित होते हुए भी धर्मवीर भारती ने बोलचाल की हिंदी का सफल प्रयोग किया है और उसे अनावश्यक रूप से तत्सम शब्दों से नहीं लादा है।

अंधायुग को कैसे पढ़ा जाए? : 'अंधायुग' काव्य नाटक है। उसकी परीक्षा कविता और नाटक दोनों के उपकरणों से करना होगी। कविता का उपकरण शब्द है, लय है, बिंब है और है जीवन्त अर्थ की क्षमता। नाटक के उपकरण रंगमंच प्रस्तुति, अभिनय, आवेग और संवाद की प्रभाव व्यंजना पर विचार करना होगा। दोनों विधाओं के सत्य को एक साथ उद्‌घाटित करना होगा। मिथकों के गहरे, रहस्य को खोलना होगा। 'अंधायुग' नाटक में महाभारत के मिथक को दूसरे विश्वयुद्ध के संदर्भ में देखा गया है। इस कृति में विश्वयुद्ध के बाद की निराशा और मानवीय आस्था की खंडित अनुभूति को देखना उचित होगा। साथ ही स्वतंत्रता प्राप्ति के तत्काल बाद की भारतीय परिस्थितियों को भी दृष्टि में रखना होगा। इसका प्रत्येक पात्र हमारे तत्कालीन समाज की किसी न किसी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है।

हिंदी साहित्य में 'अंधायुग' की प्रासंगिकता पर विचार करना होगा। अंधे राजा का दृष्टिकोण व्यवस्था पर हावी है। उसके निर्णयों से समूची जनता त्रस्त है। क्या आज की व्यवस्था इससे अलग हो सकी है ? इस प्रश्न पर भी विचार करें। अश्वत्थामा के विक्षोभ में स्वातंत्र्योतर पीढ़ी के क्षोभ को देखने पर भारती का दृष्टिकोण समझने में मदद मिल सकती है। इसी तरह के कई प्रश्नों को साहित्यिक प्रासंगिकता के दायरे में उठाना चाहिए।

नाट्यभाषा की लय हमारी बोलचाल की टोन के नजदीक आकर ही सर्जनात्मक हो सकती है। नाटक को समझने के लिए भाषा के आवेग, नाटकीय विडंबना और नाटकीय मौन के सार्थक प्रयोग को जानना होता है। संवाद की मन्द गति और उच्च गति पर ध्यान दें। भाषा की भावुकता और बौद्धिकता, काव्यात्मकता और नाटकीयता के तनाव और नाटक की प्रतीकात्मकता को समझने की चेष्टा करें।

नाटक का सबसे महत्वपूर्ण तत्व मंचन, शैली, और अभिनय है। मंचन में इस नाटक ने कीर्तिमान स्थापित किया। अनेक निर्देशक बार-बार अपने युग का अर्थ पाने के लिए 'अंधायुग' की ओर लौटते रहे हैं। शैली की दृष्टि से कई शैलियों का मिश्रित प्रयोग इस नाटक का आधार रहा है। भारतीय रंगमंच की लोक शैली, ग्रीक नाटक की कोरस शैली आदि कई प्रकार के शैलीगत को प्रयोग गंभीरतापूर्वक समझें। अभिनय की दृष्टि से किस पात्रों में कितनी संभावना है, किसका अभिनय चुनौतीपूर्ण हो सकता है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि अपनी रचनात्मकता को रंगमंच के रूप में साकार कर सकने में नाटक किस हद तक कामयाब है।

शब्दार्थ और संदर्भों की व्याख्या

कृश : दुबली काया
अन्धगह्वर : अंधेरी गुफा
वंचक : धोखेबाज
श्वेतकेशी : पके हुए बाल
आजानबाहू : जिसके हाथ घुटने तक पहुँचे
परात्पर : सर्वश्रेष्ठ
तटस्थ द्रष्टा : निरपेक्ष भाव से देखने वाला
प्रहरी : जनसाधारण का प्रतीक
भूलुंठित : पृथ्वी पर जिसे गिरा दिया गया हो। बेसहारा।
कौरव कबंध : वैसे कौरव जिनका सिर उतार लिया गया हो।
सात्यकि : एक यादव जिसने महाभारत के युद्ध में पांडवों का पक्ष लिया था।
मातुल : मामा
अर्थहीन : अस्तित्ववादी शब्दावली का प्रयोग है
विगत ज्वर : बिना मोह के
श्रीहत : सुंदरता विहीन
छकड़ों : गाडी
रथ का पहिया : अंधायुग का केन्द्रीय बिंब हैं जो इतिहास की गतिशीलता का प्रतीक है।

अक्षौहिणी : महाभारतकालीन सेना की संख्या
कुंजर : हाथी
तूफान : मानसिक झंझा का प्रतीक
मोरपंख : आशा-विश्वास-मर्यादा का प्रतीक
कौए के काले पंख : भयानक अदम्य और अंधी घृणा के प्रतीक
संजय : आधुनिक बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतीक है
शर : भाले का फल
प्रास : प्राचीन काल की बरछी या भाला।
नाराच : लोहे का बाण।
हलक : गले की नली
वल्गाएँ : लगाम
धूम्रमेघ : काले बादल
शतधा : सैकड़ों बार
समिधा : हवन पूजन की सामग्री

नाटक में से व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. यह अजब युद्ध है नहीं किसी की भी जय
दोनों पक्षों को खोना ही खोना है
अंधों से शोभित था युग का सिंहासन
दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा
दोनों ही पक्षों में जीता अंधापन
भय का अंधापन, ममता का अंधापन
अधिकारों का अंधापन जीत गया
जो कुछ सुंदर था, शुभ था, कोमलतम था
वह हार गया.....द्वापर युग बीत गया

2) संस्कृति थी यह एक बूढ़े और अंधे की
जिसकी संतानों ने
महायुद्ध घोषित किए,
जिसके अंधेपन में मर्यादा
गलित अंग वेश्या-सी
प्रजाजनों को भी रोगी बनाती फिरी
उस अंधी संस्कृति,
उस रोगी मर्यादा की
रक्षा हम करते रहे
सत्रह दिन।

3) पर वह संसार
स्वतः अपने अंधेपन से उपजा था।
मैंने अपने ही वैयक्तिक संवेदन से जो जाना था
केवल उतना ही था मेरे लिए वस्तु-जगत्
इन्द्रजाल की माया-सृष्टि के समान
घने गहरे अँधियारे में
एक काले बिंदु से
मेरे मन ने सारे भाव किये थे विकसित
मेरी सब वृत्तियाँ उसी से परिचालित थीं!
मेरा स्नेह, मेरी घृणा, मेरी नीति, मेरा धर्म
बिल्कुल मेरा ही वैयक्तिक था।

उसमें नैतिकता का कोई बाह्य मापदंड था ही नहीं।
कौरव जो मेरी मांसलता से उपजे थे
वे ही थे अंतिम सत्य
मेरी ममता ही वहाँ नीति थी,
मर्यादा थी।

4) मेरी वैयक्तिक सीमाओं के बाहर भी
सत्य हुआ करता है
आज मुझे भान हुआ।
सहसा यह उगा कोई बाँध टूट गया है
कोटि-कोटि योजन तक दहाड़ता हुआ समुद्र
मेरे वैयक्तिक अनुमानित सीमित जग को
लहरों की विषय-जिह्वाओं से निगलता हुआ
मेरे अंतर्मन में पैठ गया
सब कुछ बह गया
मेरे अपने वैयक्तिक मूल्य
मेरी निश्चिंत किंतु ज्ञानहीन आस्थाएँ।

5) धर्म, नीति, मर्यादा, यह सब हैं केवल आडम्बर मात्र,
मैंने यह बार-बार देखा था।
निर्णय के क्षण में विवेक और मर्यादा
व्यर्थ सिद्ध होते आये हैं सदा
हम सब के मन में कहीं एक अंध गह्वर है।
बर्बर पशु, अंधा पशु वास वहीं करता है,
स्वामी जी हमारे विवेक का,
नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति, कृष्णार्पण
यह सब है अंधी प्रवृत्तियों की पोशाकें
जिनमें कटे कपड़ों की आँखें सिली रहती हैं
मुझको इस झूठे आडम्बर से नफ़रत थी
इसलिए स्वेच्छा से मैंने इन आँखों पर पट्टी चढ़ा रक्खी थी

6) आज मेरा विज्ञान सब मिथ्या ही सिद्ध हुआ।
सहसा एक व्यक्ति
ऐसा आया जो सारे
नक्षत्रों की गति से भी ज्यादा शक्तिशाली था।
उसने रणभूमि में
विषादग्रस्त अर्जुन से कहा -
"मैं हूँ परात्पर।
जो कहता हूँ करो
सत्य जीतेगा
मुझसे लो सत्य, मत डरो।"

7) पता नहीं
प्रभु है या नहीं
किंतु, उस दिन यह सिद्ध हुआ
जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को,
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है।

नियति नहीं है पूर्वनिर्धारित-
उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता-मिटाता है।

8) अंतिम परिणति में
दोनों जर्जर करते हैं
पक्ष चाहे सत्य का हो
अथवा असत्य का!

9) यह युग एक अंधा समुद्र है
चारों ओर से पहाड़ों से घिरा हुआ
और दर्रों से
और गुफाओं से
उमड़ते हुए भयानक तूफान चारों ओर से
उसे मथ रहे हैं
और उस बहाव में मंथन है, गति है
किंतु नदी की तरह सीधी नहीं
बल्कि नागलोक के किसी गह्वर में
सैकड़ों, केंचुल चढ़े, अंधे साँप
एक दूसरे से लिपटे हुए
आगे-पीछे
ऊपर-नीचे
टेढ़े-मेढ़े
रेंग रहे हों
उसी तरह सैकड़ों धाराएँ, उपधाराएँ
अंधे साँपों की तरह बिलबिला रही हैं।
ऐसा है यह अंधा समुद्र
जिसे हम आज का भव-प्रवाह कह सकते हैं।
और कुछ सफेद केंचुल ऊपर तैर आये हैं।
सफेद पट्टियों की तरह
ये पट्टियाँ गांधारी की आँखों पर हैं,
सैनिकों के जख्मों पर हैं

10) **मैं दो बड़े पहियों के बीच लगा हुआ**
एक छोटा निरर्थक शोभा-चक्र हूँ
जो बड़े पहियों के साथ घूमता है
पर रथ को आगे नहीं बढ़ाता
और न धरती ही छू पाता है!
और जिसके जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है
कि वह धुरी से उतर भी नहीं सकता!

11) पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी
शिशु होंगे पैदा विकलांग और कुष्ठग्रस्त
सारी मनुष्य जाति बौनी हो जायेगी
जो कुछ भी ज्ञान संचित किया है मनुष्य ने
सतयुग में, त्रेता में, द्वापर में
सदा-सदा के लिये होगा विलीन वह
गेहूँ की बालो में सर्प फुफकारेंगे
नदियों में बह-बह कर आयेगी पिघली आग।

12) सारे तुम्हारे कर्मों का पाप-पुण्य, योगक्षेम मैं
वहन करूँगा अपने कंधों पर
अट्ठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में
कोई नहीं केवल मैं ही मरा हूँ करोड़ों बार
जितनी बार जो भी सैनिक भूमिशायी हुआ
कोई नहीं था
वह मैं ही था
गिरता था घायल होकर जो रणभूमि में।
अश्वत्थामा के अंगों से
रक्त, पीप, स्वेद बन कर बहूँगा
मैं ही युग-युगांतर तक
जीवन हूँ मैं
तो मृत्यु भी तो मैं ही हूँ माँ!
शाप यह तुम्हारा स्वीकार है।

13) यह आत्महत्या होगी प्रतिध्वनित
इस पूरी संस्कृति में
दर्शन में, धर्म में, कलाओं में
शासन-व्यवस्था में
आत्मघात होगा बस अंतिम लक्ष्य मानव का

14) "मरण-नहीं है ओ व्याध!
मात्र रूपांतरण है वह
सबका दायित्व लिया मैंने अपने ऊपर
अपना दायित्व सौंप जाता हूँ मैं सबको
अब तक मानव-भविष्य को मैं जिलाता था
लेकिन इस अंधे युग में मेरा एक अंश
निष्क्रिय रहेगा, आत्मघाती रहेगा
और विगलित रहेगा
संजय, युयुत्सु, अश्वत्थामा की भाँति
क्योंकि इनका दायित्व लिया है मैंने!"

15) "लेकिन शेष मेरा दायित्व लेंगे
बाकी सभी.....
मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा
हर मानव-मन के उस वृत्त में
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर!
मर्यादायुक्त आचरण में
नित नूतन सृजन में
निर्भयता के
साहस के
ममता के
रस के
क्षण में
जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार-बार!"

व्याख्या

मरण नहीं है .....हो उठूँगा मैं बार-बार (व्याख्या अंश 14)

संदर्भ

धर्मवीर भारती हिंदी में नई कविता आंदोलन के प्रमुख कवि है। 'अंधायुग' का महत्व काव्य के इतिहास में उतना ही है जितना नाटक के इतिहास में है। रचनाकार इस कृति में नये रूप (फार्म) की तलाश करता है।'अंधायुग' में नाटककार द्वितीय महायुद्ध में झुलसी मानवीय संवेदना और खंडित नैतिकता को समझने का प्रयास करता है। आधुनिक युग की बौद्धिकता ने तर्क का ऐसा जाल फैलाया है कि सत्य का स्वरूप ही धुँधला पड़ गया है। इस समस्या को भारती ने यहाँ मुख्य मानवीय समस्या के रूप में प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त नाट्य अंश 'अंधायुग' के समापन अध्याय 'प्रभु की मृत्यु' से लिया गया है। व्याध जिसने कृष्ण को बाण से बेंधकर उनके प्राणान्त का कारण बना, वह प्रभु के मृत्यु के समय के वचन का एक मात्र साक्षी था। उसने प्रभु के मुख से अंतिम समय में जो कुछ सुना, उसे यहाँ प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग में अश्वथामा और व्याध के बीच संवाद हो रहा है।

व्याख्या

यहाँ धर्मवीर भारती गीता में कृष्ण द्वारा कही बातों को आधुनिक संदर्भ देते हैं। गीता में आत्मा को अमर माना गया है। शरीर नष्ट हो जाता है पर आत्मा नहीं। प्रसाद ने 'चंद्रगुप्त' में अमर्त्य वीर पुत्र कहा है। लेकिन भारती ने इस रूपांतरण को दूसरे स्तर पर उठाया है। अभी तक ईश्वर युग की आस्था और अनास्था, घृणा और प्रेम का भार ढ़ोता था। इस आधुनिक युग में ऐसा कोई विराट नायक और मसीहा जीवन दर्शन को तय करने के लिए नहीं होता। मनुष्य को अपनी पंगडंडी की खोज खुद ही करनी पड़ती है। इसलिए मनुष्य के अंतर्मन को ईश्वर का स्थान मिलना उचित है। वही उसके मार्ग का निर्देशन करेगा। यहाँ आस्था का प्रश्न जीवन जीने की प्रक्रिया में प्राप्त होगा। इस रूपांतरण की प्रक्रिया में कृष्ण के भीतर की जो संचित प्रेरणा शक्ति है वह मनुष्य की चेतना के सद्पक्षों में विस्तार पा जाती है। उस किसी चीज का नाश नहीं होता जो अपने से उठकर दूसरों के साथ अपने को जोड़ लेती है। कृष्ण के शाश्वत बोध और ईश्वरीय अनुभव को आधुनिक युग का मनुष्य अपने भीतर लेकर जीता है, तो यह उसका नाश नहीं है। इसे हम काल के मिथकीय आयाम में अनुभव कर सकते हैं।

कृष्ण मानवीय भविष्य के प्रति आस्थावान दिखते हैं। वे मानवीय भविष्य की संभावनाओं और आंकाक्षाओं के प्रति समर्पित थे। मानवीय भविष्य को सुन्दर तभी बनाया जा सकता है जब वर्तमान सुंदर हो। किसी मसीहा के आने की आशा, अंतिम निर्वाण की परिकल्पना, धरती पर स्वर्ग स्थापित करने का स्वप्न आदि। भविष्य के प्रति सम्मोहन अच्छा है, परंतु वर्तमान की अवज्ञा करके नहीं। ईश्वर यदि संपूर्ण का बोध कराता है तो संजय, युयुत्सु, अश्वत्थामा उन खंड-सत्यों का जो मानवीय समस्याओं का कोई निदान नहीं दे पाते। संजय जो बुद्धिजीवी है समस्याओं से तटस्थ और निरपेक्ष है। युयुत्सु जिसने जीवन के अनुभव से सत्य-प्राप्त किया था। वह सत्य उसे अकेला और कुंठित बनाता है। जीवन की स्थितियाँ इतनी विडम्बनापूर्ण हैं कि आत्मघात ही उसके जीवन का सत्य है। अश्वत्थामा में विक्षोभ है जो उसके जीवन में सड़ांध उत्पन्न करता है। बदले की भावना प्रतिहिंसा से भर देती है। ये सभी बीसवीं सदी की दिशाहारा संस्कृति के प्रतीक हैं।

कृष्ण का कहना है कि भविष्य न तटस्थता में है, न आत्मघात में और न ही प्रतिहिंसा में। जिनमें इन तीनों का अभाव होगा वे ही भविष्य का निर्माण करेंगे। भारती का मानना है कि ध्वंस कितना भी बड़ा हो निर्माण हमेशा उनसे बड़ा होता है।

विशेष

'अंधायुग' में कृष्ण के द्वारा कहे गए इस कथन में गीता के सत्य को आधुनिक संदर्भ दिया है। जीवन की रचनात्मकता में आस्था व्यक्त की गई है।

अस्तित्ववादी शब्दावली में प्रतिहिंसा और आत्मघात की अवधारणा को व्यक्त किया गया है।

भारतीय नाट्य परंपरा के अनुसार कृष्ण का यह वचन भरतवाक्य जैसा लगता है। कृष्ण जो ईश्वर के रूप में मिथकीय चरित्र है उनके कथन में वैसी ही दिव्यता की अनुभूति होती है।

शब्दों में आंतरिक लय विद्यमान है। शब्द एक सांगीतिक स्वाद में बंधे हुए हैं। शब्द में टोन के फर्क से असीमित अर्थ संभावनाओं को व्यक्त किया जा सकता है।

उपयोगी पुस्तकें

पश्यंती : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।

कविता का प्रति संसार : निर्मला जैन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

समानांतर : रमेशचन्द्र शाह, सरस्वती प्रेस, वाराणसी।

अंधायुग : पाठ और प्रदर्शन : जयदेवी तनेजा, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली।

धर्मवीर भारती ग्रंथावली : संपा.चन्द्रकांत बांदिवडेकर (भूमिका), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

मुक्तिबोध रचनावली (भाग-5) : संपा. नेमिचन्द्र जैन, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली।

इकाई 7 मोहन राकेश की नाट्य सृष्टि

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 मोहन राकेश का नाट्य कर्म
7.3 मोहन राकेश का नाट्य चिंतन
7.4 नाटक और रंगमंच के अंतःसंबंधों में संगति
7.5 मोहन राकेश और 'आधे-अधूरे'
7.6 सारांश

7.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के दूसरे खंड की पहली इकाई का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई में हिंदी के प्रख्यात कथाकार और नाटककार मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' के बारे में पढ़ेंगे।

मोहन राकेश ने कुल चार नाटक लिखे हैं जिनमें से चौथा नाटक 'पैर तले की ज़मीन' वे पूरा नहीं कर सके। शेष तीन नाटक 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' और 'आधे-अधूरे' के माध्यम से लेखक ने क्या कहना चाहा है, इस पर इकाई में विचार किया गया है।

उनके पहले दो नाटकों का कथानक इतिहास आधारित है। आप इससे पूर्व प्रसाद का नाटक 'स्कंदगुप्त' भी पढ़ चुके हैं, उसका कथानक भी इतिहास पर आधारित है। मोहन राकेश ने इतिहास को नाटकों का आधार क्यों बनाया और उनके माध्यम से उन्होंने जो कहना चाहा है, क्या उसका संबंध वर्तमान से है? इस इकाई में इस पहलू पर भी विचार किया गया है।

मोहन राकेश के नाटक प्रसाद के नाटकों से काफी अलग हैं। प्रसाद के नाटक अपनी साहित्यिक मूल्यवत्ता के बावजूद रंगमंच पर सफल नहीं थे जबकि राकेश के नाटक दोनों दृष्टियों से सफल थे। उनकी इस सफलता का कारण नाटक और रंगमंच संबंधी उनके सोच में निहित था। इकाई का अध्ययन करने से आप मोहन राकेश के नाटक संबंधी चिंतन से भी परिचित हो सकेंगे।

मोहन राकेश के सभी नाटकों की सैकड़ों प्रस्तुतियाँ प्रख्यात निर्देशिकों द्वारा सफलतापूर्वक की गई है। मोहन राकेश के नाटकों के संदर्भ में नाटक और रंगमंच के अंतःसंबंधों पर भी इकाई में विचार किया जाएगा।

मोहन राकेश के नाटकों में 'आधे-अधूरे' का विशिष्ट स्थान है। इसका कथानक इतिहास आधारित नहीं है। इसको लेकर काफी वाद-विवाद भी होता रहा है, इसके बावजूद इसकी श्रेष्ठता और सफलता असंदिग्ध है। 'आधे-अधूरे' के इस महत्व पर भी इकाई में विचार गया जाएगा।

7.1 प्रस्तावना

एम.ए. हिंदी के अनिवार्य पाठ्यक्रम 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के दूसरे खंड की यह पहली इकाई और पाठ्यक्रम की सातवीं इकाई है। इससे पहले के खंड में आपने दो नाटकों

'अंधेर नगरी' और 'स्कंदगुप्त' के बारे में अध्ययन किया है। 'अंधेर नगरी' हिंदी का पहला महत्वपूर्ण नाटक है जिसमें एक लोककथा को आधार बनाकर ऐसे राज्य का विद्रूप चित्र प्रस्तुत किया गया है, जहाँ कोई न्याय व्यवस्था नहीं है और अच्छाई और बुराई में फर्क करने का विवेक नहीं है। इस नाटक की रचना भारतेंदु हरिश्चंद्र ने की थी। 'स्कंदगुप्त' जिसके लेखक जयशंकर प्रसाद थे, ऐतिहासिक कथानक पर आधारित नाटक है, लेकिन इसके माध्यम से प्रसाद ने विदेशी आक्रमण से आक्रांत देश की आंतरिक स्थिति का प्रभावशाली चित्रण किया है। प्रसाद का नाटक राष्ट्र प्रेम और विभिन्न समुदायों के बीच एकता का प्रसार करने के उद्देश्य से लिखा गया है।

मोहन राकेश का नाटक 'आधे-अधूरे' स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के दौर में लिखा गया है। इसका कथानक मध्य वर्ग के जीवन से संबंधित है। एक शहरी मध्यवर्गीय परिवार की कहानी इसमें कही गई है जो धीरे-धीरे टूट रहा है। पुरुष महेंद्रनाथ एक असफल व्यक्ति है और पत्नी सावित्री की नौकरी से ही घर का खर्च चलता है। पति की असफलता और दब्बूपन ने पत्नी के जीवन को रिक्तता से भर दिया है और इससे मुक्ति पाने के लिए वह ऐसे पुरुष की तलाश में है जो उसे इस खालीपन से आजाद कराए। लेकिन इस नाटक के सभी पात्र आधे-अधूरे हैं और मुक्ति की तलाश के बावजूद वे उसी नियति से बंधे चक्कर लगाते रहते हैं। मध्यवर्ग की इस विडंबना को ही मोहन राकेश ने प्रभावशाली रूप में नाटक में प्रस्तुत किया है।

मोहन राकेश ने अपनी रचनाओं में स्त्री-पुरुष संबंधों की गहरी पड़ताल की है। यह कोशिश हमें इस नाटक में भी नज़र आती है। नाटक की सफलता रंगमंच पर प्रदर्शन से सिद्ध होती है। इस दृष्टि से मोहन राकेश हिंदी के पहले ऐसे नाटककार हैं जिनके सभी नाटक रंगमंच पर अत्यंत सफलतापूर्वक खेले जाते रहे हैं। मोहन राकेश का नाट्य संबंधी सोच प्रसाद के सोच से भिन्न है। वे नाटक की सफलता उसके रंगमंच पर प्रदर्शन में मानते हैं। मोहन राकेश के नाटकों के इन पक्षों पर इस इकाई में विचार किया गया है। इस इकाई को पढ़ने से पूर्व आप 'आधे-अधूरे' अवश्य पढ़ें। अन्यथा आप इकाई में कही गई बातों को सही परिप्रेक्ष्य में नहीं समझ पाएँगे।

7.2 मोहन राकेश का नाट्य कर्म

मोहन राकेश असाधारण प्रतिभा के धनी कलाकार थे। उन्होंने गद्य की प्रायः सभी विधाओं में साहित्य सृजन किया। लेकिन उन्हें सबसे अधिक ख्याति नाट्य लेखन में मिली। उनके लिखे तीन नाटक 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' और 'आधे-अधूरे' अपनी साहित्यिक और रंगमंचीय उत्कर्षता के कारण आज भी अत्यंत लोकप्रिय हैं। 'आधे-अधूरे' नाटक आधुनिक मध्यवर्गीय जीवन से संबंधित है जबकि 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' ऐतिहासिक कथानकों पर आधारित हैं। उनका चौथा और अंतिम नाटक 'पैर तले की ज़मीन' उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। नेमिचंद्र जैन के अनुसार, "इसे वह स्वयं पूरा नहीं कर पाये थे और मृत्यु से पहले केवल पहला अंक और दूसरे का कुछ अंश ही लिखा जा सका था। ये अंश भी कई बार लिखे जाने के बावजूद अभी एक तरह के मसौदे के रूप में ही थे जिनके आधार पर उनके मित्र कमलेश्वर ने नाटक का दूसरा अंक लिखकर उसे प्रकाशित कराया। इस अधूरेपन के बावजूद, पहला अंक अत्यंत संभावनापूर्ण नाटकीय स्थिति को प्रस्तुत करता है।"
(मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक, सं0 नेमिचंद्र जैन, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ 15, संस्करण 1973)

मोहन राकेश का पहला नाटक 'आषाढ़ का एक दिन', 1958 में प्रकाशित हुआ था। तीन महीने के बाद ही उसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ और इसके बाद से कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। यह नाटक अत्यंत लोकप्रिय है। इसकी साहित्यिक उत्कर्षता और रंगमंचीय सफलता ने मोहन राकेश को एक सफल नाटककार के रूप में स्थापित कर दिया। इस नाटक के लिए मोहन राकेश ने संस्कृत के महाकवि और नाटककार कालिदास के ज़ीवन

प्रसंगों को आधार बनाया है। कालिदास के बारे में प्रामाणिक रूप से कुछ भी कहना मुश्किल है, लेकिन प्रचलित किवदंतियों को आधार बनाकर जो प्रश्न मोहन राकेश ने उठाया है, उसका संबंध कालिदास और उनके समय से रहा हो या न रहा हो, हमारे समय से काफी गहरा है। राज्याश्रय और रचनाकर्म में परस्पर संबंध हमेशा विवाद का विषय रहा है। इस नाटक की कथावस्तु में लेखक और राज्य के बीच संबंधों से उत्पन्न रचनाकार के द्वंद्व को गहरी संवेदना के साथ प्रस्तुत किया गया है।

इतिहास के बारे में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए मोहन राकेश ने लिखा था, "इतिहास या ऐतिहासिक व्यक्तित्व का आश्रय साहित्य को इतिहास नहीं बना देता। इतिहास तथ्यों का संकलन करता है, उन्हें एक समय तालिका में प्रस्तुत करता है। साहित्य का ऐसा उद्देश्य कभी नहीं रहा। इतिहास के रिक्त कोष्ठों की पूर्ति करना भी साहित्य का उपलब्धि क्षेत्र नहीं है। साहित्य इतिहास के समय से बँधता नहीं, समय में इतिहास का विस्तार करता है, युग से युग को अलग नहीं करता, कई-कई युगों को एक साथ जोड़ देता है।" इतिहास की नाटककार की समझ हमें यही बताती है कि उसके लिए इतिहास अतीत की घटनाओं का संकलन नहीं है बल्कि साहित्य के लिए इतिहास अतीत और वर्तमान को जोड़ने का माध्यम है। मोहन राकेश को कालिदास में इसी संबद्धता के सूत्र दिखाई देते हैं। यही कारण है कि वे इतिहास-व्यक्ति कालिदास की बात नहीं करते बल्कि उस कालिदास की बात करते हैं जो उनकी रचनाओं से बना है। स्वयं लेखक के शब्दों में, "'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास का जैसा भी चित्र है, वह उसकी रचनाओं में समाहित उसके व्यक्तित्व से बहुत हटकर नहीं है, हाँ, आधुनिक प्रतीक के निर्वाह की दृष्टि से उसमें थोड़ा परिवर्तन अवश्य किया गया है। यह इसलिए कि कालिदास मेरे लिए एक व्यक्ति नहीं, हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, नाटक में वह प्रतीक अंतर्द्वंद्व को संकेतित करने के लिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आंदोलित करता है। व्यक्ति कालिदास को उस अंतर्द्वंद्व में से गुजरना पड़ा या नहीं, यह बात गौण है। मुख्य बात यह है कि हर काल में बहुतों को उसमें से गुजरना पड़ा है। हम भी आज उसमें से गुजर रहे हैं। हो सकता है व्यक्ति कालिदास का यह नाम भी वास्तविक न हो, पर हमारी आज तक की सृजनात्मक प्रतिभा के लिए इससे अच्छा दूसरा नाम, दूसरा संकेत मुझे नहीं मिला।"

इतिहास और इतिहास-चरित्रों को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखने की इस समझ को यदि हम ध्यान में नहीं रखेंगे तो मोहन राकेश के ऐतिहासिक कथानकों पर आधारित नाटकों के महत्व को भी नहीं समझ पाएँगे। यह बात सिर्फ मोहन राकेश पर ही लागू नहीं होती, जयशंकर प्रसाद पर भी लागू होती है, जिन्होंने ऐतिहासिक कथानकों को आधार बनाकर नाटक लिखे थे।

मोहन राकेश का दूसरा नाटक 'लहरों के राजहंस' का संबंध भी इतिहास से है। भगवान बुद्ध के छोटे भाई नंद के जीवन से संबंधित इस नाटक को उन्होंने अश्वघोष के काव्य 'सौन्दरनंद' की कथा के आधार पर निर्मित किया है। स्वयं नाटककार का मानना है कि "जो स्वतंत्रता 'सौन्दरनन्द' के लेखक ने उपलब्ध तथ्यों से आगे जाने में ली, वही स्वतंत्रता यदि आज का लेखक सौन्दरनन्द के तथ्यों से आगे जाने में लेता है, तो 'पुराणसर्वस्व' व्यक्तियों को चौंकना नहीं चाहिए।" इतिहास को नाट्य वस्तु का आधार बनाते हुए भी अपनी बात कहने के लिए उससे बंधे रहने की अनिवार्यता मोहन राकेश नहीं स्वीकार करते। वे 'लहरों के राजहंस' की प्रेरणा को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "यहाँ नन्द और सुंदरी की कथा एक आश्रय-मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। नाटक का मूल अंतर्द्वंद्व उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है जिस अर्थ में 'आषाढ़ का एक दिन' के अंतर्गत है।"

मोहन राकेश के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि उन्होंने 'लहरों के राजहंस' की रचना भी इतिहास की पुनर्रचना करने के लिए नहीं की बल्कि इसकी रचना के पीछे भी प्रेरणा आधुनिक है। 'आषाढ़ का एक दिन' में राजसत्ता और रचनाकार का अंतर्द्वंद्व है तो इस नाटक में जीवन के प्रति राग और विराग का। ऐतिहासिक कथानकों के माध्यम से इन सवालों को रखने के पीछे लेखक का उद्देश्य संभवतः यह रहा है कि वह यह बता सके कि इन सवालों से प्रत्येक

युग का रचनाधर्मी और संवेदनशील व्यक्ति जूझता है। इनसे जूझे बिना कुछ भी सार्थक नहीं रचा जा सकता।

'लहरों के राजहंस' रंगमंच पर उतना सफल नहीं रहा जितना कि 'आषाढ़ का एक दिन'। लेकिन इस नाटक को भी पर्याप्त प्रसिद्धी मिली और इसको लेकर साहित्यिक हलकों और रंगकर्मियों और रंगप्रेमियों के बीच व्यापक चर्चा हुई।

मोहन राकेश का तीसरा नाटक 'आधे-अधूरे' का कथानक इतिहास पर आधारित नहीं है। इसमें उन्होंने समकालीन यथार्थ पर आधारित कथावस्तु को ही लिया है। एक मध्यवर्गीय शहरी परिवार की कहानी इसमें कही गई है। अपने पहले के दो नाटकों की तरह इस नाटक में भी मध्यवर्गीय जीवन के माध्यम से मोहन राकेश ने स्त्री-पुरुष संबंधों में आते बदलाव को दर्शाया है। प्रसिद्ध रंग निर्देशक इब्राहीम अलकाजी ने 'आधे-अधूरे' पर टिप्पणी करते हुए लिखा था, "यह नाटक मध्यवर्गीय जीवन की शुष्क, विनाशकारी रिक्तता का प्रखर दस्तावेज़ है और विकृत मूल्यों, भ्रांतियों एवं दोगली नैतिकता का निर्मम अनावरण, जो उस रिक्तता के कारण है।"

मोहन राकेश का चौथा और अधूरा नाटक 'पैर तले की ज़मीन' का कथानक भी समकालीन यथार्थ से संबंधित है। राक़ेश ने यदि अपने पहले दो नाटक ऐतिहासिक कथानक पर लिखे तो शेष दोनों नाटकों का संबंध आधुनिक सामाजिक यथार्थ से है। कई अर्थों में उनका अंतिम नाटक पहले के नाटकों से भिन्न है। पहले के तीनों नाटकों में लेखक ने स्त्री-पुरुष संबंधों के माध्यम से अपनी बात कही थी लेकिन अपने चौथे नाटक में चरित्रों में वैसा कोई संबंध नहीं है। वे संयोग से एकत्र हुए हैं और मृत्यु के आसन्न संकट से उत्पन्न स्थितियाँ ही इस नाटक की कथावस्तु का आधार है। रंगकर्मी प्रतिभा अग्रवाल ने नाटक पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, "'पैर तले की ज़मीन' भी आधुनिक जीवन की विसंगति, अवसाद एवं घुटन को लेकर लिखा गया नाटक है। इस नाटक की मूल प्रवृत्ति अस्तित्ववादी है, परिवेश घर से बाहर कश्मीर में एक टूरिस्ट क्लब है। पात्र सब अलग-अलग हैं तथापि नियति ने उस एक दिन के लिए उन्हें एक स्थल पर ला रखा है और अचानक भयंकर बाढ़ के कारण टूरिस्ट क्लब को शहर से जोड़ने वाला पुल टूटने लगता है और उनक सम्पर्क बाहर की दुनिया से कट जाता है। आसन्न मृत्यु की छाया में उन पात्रों की परिवर्तित मनोवृत्ति का बड़ा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एव चित्रण राकेश ने किया है। कुछेक घंटों बाद बाढ़ के पानी के कम होने की सूचना मिलती है, टेलीफोन की घंटी बज उठती है, जीवन के बचने का आश्वासन मिलता है, सब पुनः पहले की मनःस्थिति को प्राप्त होते हैं।"

मोहन राकेश का कुल नाट्य कर्म यही है, लेकिन उनके तीनों पूर्ण नाटक हिंदी में ही नहीं भारतीय नाटकों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। आगे के भागों में नाटक और रंगमंच संबंधी मोहन राकेश की दृष्टि को समझने और उसका विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे।

7.3 मोहन राकेश का नाट्य चिंतन

एक नाटककार के लिए मंच की सीमाओं का परिज्ञान आवश्यक है। मोहन राकेश को मंच की सीमाओं का गहरा ज्ञान था। वे मंच और दर्शकों को दृष्टि में रखकर नाटक लिखते थे। लेकिन मंच और दर्शक के लिए वे नाटक का स्तर नहीं गिराते थे। साहित्यिक स्तर और रंगमंच - दोनों के सार्थक समन्वय के वे पक्षधर थे। पारसी रंगमंच स्तरीय न होने कारण उन्हें अनुकूल नहीं लगा और प्रसाद का जटिल रंगमंच भी उनकी मान्यता के विपरीत था। पारसी रंगमंच के संबंध में मोहन राकेश लिखते हैं - "हिंदी रंगमंच ने उन पारसी कम्पनियों की हीन और गली-सड़ी विरासत लेकर जन्म लिया, जो स्वयं घटिया दर्जे के यूनानी रंगमंच से प्रेरणा लेकर पनपी थीं। ... हिंदी में कविरत्न पं0 राधेश्याम कथावाचक की कृतियाँ ही इस रंगमंच के अनुकूल बन सकीं। इससे अधिक की शायद आशा भी नहीं की जा सकती थी।" (मोहन राकेश : साहित्यिक

और सांस्कृतिक दृष्टि, पृष्ठ 98-99)। प्रसाद के संबंध में राकेश का मत है - "प्रसाद जी ने पारसी कम्पनियों की परम्परा से तो नाता तोड़ा, पर न उन्होंने भारतेंदु की परम्परा को आगे ले जाने का प्रयत्न किया और न ही रंगमंच की किसी नयी परम्परा का संकेत दिया। यद्यपि उनका विचार था कि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हों, सुरुचि - सम्पन्न सामाजिक हों और पर्याप्त द्रव्य काम में लाया जाये तो उनके नाटक अभिनीत होकर अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं, पर उनके नाटकों के शिल्प को देखते हुए उनसे सहमत होना असंभव प्रतीत होता है। ... प्रसाद जी का रंगमंच के साथ संपर्क नहीं रहा, शायद इसीलिए वे रंगमंच की सीमाओं से परिचित नहीं हो सके" (साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि, पृष्ठ 100)। भारतेंदु की रंग-दृष्टि हिंदी रंगमंच को विकास की ओर ले जा सकती थी। राकेश लिखते हैं - "भारतेंदु के मौलिक नाटकों में रंगमंच के संबंध में उनकी स्पष्ट दृष्टि का परिचय अवश्य मिलता है। लोकरुचि और परम्परा, दोनों को मान्यता देते हुए उन्होंने संस्कृत नाटक के रंगशिल्प को नये साँचे में ढालने का प्रयत्न किया। भारतेंदु की पात्र-कल्पना तथा उनके दृश्य-संयोजन का जनसाधारण में नाटक की स्थापना करने की इच्छा को व्यक्त करते हैं। ... भारतेंदु की दृष्टि को आगे विकसित किया जाता तो अब तक हिंदी रंगमंच का एक निश्चित रूप हमारे सामने आ गया होता।"

नाटक के लिए रंगमंच का महत्व स्वीकार करते हुए राकेश लिखते हैं - "लिखा गया नाटक एक हड्डियों के ढाँचे की तरह है जिसे रंगमंच का वातावरण ही मासंलता प्रदान करता है।" उनके अनुसार सही रंगमंच की खोज के लिए आवश्यक है - "अपने जीवन और परिवेश की गहरी पहचान-आज के अपने घात-प्रतिघातों की रंगमंचीय संभावनाओं पर दृष्टिपात। यह खोज ही हमें वास्तविक नये प्रयोगें की दिशा में ले जा सकती है और उस रंग-शिल्प को आकार दे सकती है जिससे हम स्वयं अब तक परिचित नहीं हैं।" हिंदी रंगमंच की विपन्न स्थिति को देखते हुए राकेश सहज मंच के हिमायती है - "तकनीकी रूप से समृद्ध और संश्लिष्ट रंगमंच भी अपने में विकास की एक दिशा है, परंतु उस से हटकर एक दूसरी दिशा भी है और मुझे लगता है कि हमारे प्रयोगशील रंगमंच की वही दिशा हो सकती है। वह दिशा रंगमंच के शब्द और मानवपक्ष को समृद्ध बनाने की है - अर्थात् न्यूनतम उपकरणों के साथ संश्लिष्ट से संश्लिष्ट प्रयोग कर सकने की। यहीं रंगमंच में शब्दकार का स्थान महत्वपूर्ण हो उठता है।।" अन्यत्र और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं - "हमारी अपेक्षा न्यूनतम तकनीकी उपादानों के आश्रय से रंगमंच के विकास की है, और उसके लिए विशिष्ट तकनीकी सुविधाओं से सम्पन्न प्रदर्शन-गृहों की अपेक्षा और निर्भरता से हमें, जहाँ तक बन पड़े, अपने को मुक्त करना होगा। उन परिस्थितियों से हम सब परिचित हैं, जिनके कारण हमारे यहाँ अच्छे से अच्छे नाट्य प्रयोगों के तीन-तीन, चार-चार से अधिक प्रदर्शन नहीं हो पाते। और इतना भी संभव बनाने के लिए आयोजकों को कितना श्रम करना पड़ता है और कितनी आर्थिक क्षति झेलनी पड़ती है, यह सब हमसे छिपा नहीं है।"

मोहन राकेश नाट्य रचना में उपयुक्त भाषा पर विशेष बल देते हैं - "शब्द मूलतः ध्वनि तथा लय ध्वनि का धर्म, होने से किसी भी तरह के शब्द प्रयोग की सार्थकता उसके लय - नियोजन पर निर्भर करती है। यह लय-नियोजन अपने से ही कई-कई बिम्बों तथा मिथकों के संसर्ग मन में जगाकर शब्दों के व्याकरण-विश्लेषित अर्थ से परे बहुत-से अनिर्वचनीय तथा विश्लेषणातीत अर्थों की अनुगूँज मन में पैदा कर सकता है। इस लय-नियोजन के नाटकीय प्रयोग की संभावनाएँ असीमित हैं। एक नाटक के अंतर्गत साधारण से साधारण ढंग से बोले गये शब्दों के तो अपने अर्थ-संसर्ग रहते ही हैं, उन अर्थ-संसगों में किसी विशेष लय के संयोग से बहुत चामत्कारिक प्रभाव पैदा करने वाले दूसरे-दूसरे अर्थ संसर्ग भी लाये जा सकते हैं।" एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं - "आज के रंगमंच के लिए उपयुक्त शब्द प्रस्तुत करने में समकालीन नाटककार बहुत हद तक असफल रहा है। ... रंगमंच को किसी भी तरह की चकाचौंध का पर्याय बना देना, उसके अंतर्हित तर्क को ही पराजित करना है। शब्द, अभिनेता, और इन दोनों का संयोजन करने वाले निर्देशक के अतिरिक्त और कुछ ऐसा नहीं है जो नाटकीय रंगमंच की अनिवार्य शर्त हो। पर इससे शब्द का दायित्व बहुत बढ़ जाता है। ... मैं सिनेमाई अभिनय की तुलना में रंगमंचीय अभिनय में अभिनेता की उन्मुक्तता को भी बहुत महत्वपूर्ण मानता हूँ, परंतु यह उन्मुक्तता तभी सार्थक है, जब वह उस संयम के अंतर्गत हो, जो शब्द का है।"

मोहन राकेश रंगमंच और नाटक को सिनेमा और रेडियो से अधिका प्राणवान् मानते हैं। वे लिखते हैं - "सिनेमा और रेडियो के विशिष्ट और विकसित शिल्प के बावजूद उनकी अपनी सीमाएँ हैं। रेडियो नाटक मात्र ध्वनि की सीमाओं में आबद्ध है श्रोता को अपने लिए अपनी कल्पना से चित्रों के निर्माण का आयास करना पड़ता है। तीसरे आयाम का अभाव सिनेमा नाटक की सीमा है, जिसके कारण पर्दे पर दिखाई देने वाली रंगीन या कृष्ण-श्वेत छायाकृतियाँ अयथार्थ के भ्रम को नहीं मिटा पातीं। सिनेमा में तीसरे आयाम का विस्तार हो जाने पर भी कैमरे की आँख से देखे गये चरित्र जीते-जागते इंसानों का स्थान न ले पायेंगे, इसलिए रंगमंच की संभावनाएँ असंदिग्ध हैं। रंगमंचीय नाटकों में बढ़ती हुई लोकरुचि इस बात का प्रमाण है। दूसरे, समाज के सभी क्षेत्रों और वर्गों के लोगों में अभिनय की रुचि वर्तमान रहती है। सिनेमा और रेडियो सबकी अभिनय-रुचि की परितृप्ति का साधन नहीं बन सकते, उनके लिए रंगमंच ही एक मात्र साधन है। रंगमंच सिनेमा और रेडियो के लिए अच्छे चरित्रों के चयन का केंद्र भी बन सकता है।"

मोहन राकेश नाटककार, रंग-निर्देशक तथा अभिनेता के सहयोगी प्रयास को रंगमंच के विकास के लिए आवश्यक मानते हैं - "हमारी रंग-अवधारणा को विशेष रूप से मानवीय पक्ष पर ही निर्भर रहकर चलना होगा। अर्थात् नाटककार, रंग-निर्देशक तथा अभिनेता, इन तीनों के सहयोगी प्रयास को ही प्रमुखता देकर कल की संभावनाओं की खोज करनी होगी।" मोहन राकेश नाटककार और निर्देशक के बीच उपयुक्त तालमेल के पक्षधर हैं। वे नहीं चाहते कि निर्देशक नाटक के साथ मनमानी करे, या नाटककार ज्यों-का-त्यों नाटक मंचित करने का आग्रह करे। वे लिखते हैं - "रंगमंच की पूरी प्रयोग - प्रक्रिया में नाटककार केवल एक अभ्यागत, सम्मानित दर्शक या बाहर की इकाई बना रहे, यह स्थिति मुझे स्वीकार्य नहीं लगती। न ही यह कि नाटककार की प्रयोगशीलता उसकी अपनी अलग चारदीवारी तक सीमित रहे और क्रियात्मक रंगमंच की प्रयोगशीलता उससे दूर अपनी अलग चार दीवारी तक। इन दोनों को एक धरातल पर लाने के लिए अपेक्षित है कि नाटककार पूरी रंग-प्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग बन सके। साथ ही यह भी कि वह उस प्रक्रिया को अपनी प्रयोगशीलता के ही अगले चरण के रूप में देख सके।"

नाटककार और निर्देशक के बीच सही सामंजस्य होना चाहिए। नाटक का रंगमंच पर खरा उतरना आवश्यक है। मोहन राकेश लिखते हैं - "बहुत बार ऐसा होता है कि अपेक्षाओं के अनुसार नाटकों की रचना की जाती है, पर कई बार ऐसा भी होता है कि एक नाटक के लिए विशेष रंगमंच का संयोजन किया जाता है। परंतु दोनों ही स्थितियों में नाटककार के सामने रंगमंच के रूप -विधान का स्पष्ट होना आवश्यक है। तथाकथित साहित्यिक नाटक साहित्य-कृति होते हुए भी नाटक नहीं होता। विचार और भावपूर्ण गुम्फित भाषा नाटकीयता की कसौटी नहीं है। संवादों और घटनाओं को दृश्यों और अंकों में बाँट देना ही पर्याप्त नहीं, नाटककार के लिए यह आवश्यक है कि वह जो कुछ लिखता है उसे आँख मूँदकर अपनी कल्पना के रंगमंच पर घटित होते हुए भी देखे। लिखा हुआ नाटक अपने में पूर्ण कृति नहीं होती। रंगमंच की पृष्ठभूमि और पात्रों का अभिनय उसे पूर्णता प्रदान करते हैं। एक कृति के रूप में नाटक तभी सफलता प्राप्त कर सकता है जबकि उसमें रंगमंच पर अभिनीत होने की संभावनाएँ निहित हों।"

मोहन राकेश हिदीं रंगमंच के विकास और दर्शकों की कमी पर भी विचार करते हैं। उनका मानना है - "हिंदी का वास्तविक रंगमंच राजकीय आयोजनों से नहीं, समर्थ नाटककारों और अभिनेताओं तथा निर्देशकों के हाथों विकसित होगा। यदि नाटक जीवन के द्वंद्वों का चित्रण करेगा तो रंगमंच को भी जीवन की परिस्थितियों के अनुकूल ढलना होगा। हिंदी रंगमंच को हिंदी भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतीक बनना होगा।" दर्शकों के विषय में उनका कहना है - "दर्शक-वर्ग में गंभीर रंगमंच के संस्कार न होना अपने में कोई बहुत बड़ा तर्क नहीं है, क्योंकि यह संस्कार धीरे-धीरे चाहे विकसित हो, अपने आप विकसित नहीं होगा। उसके लिए जैसे-तैसे यह संभव बनाना ही होगा कि हमारे रंग-प्रयोग एक विस्तृत दर्शक-

समुदाय तक पहुँच सकें।" इस प्रकार मोहन राकेश का नाट्य चिंतन, नाटक और रंगमंच के व्यापक स्वरूप को अपने में समाहित किये हुए है।

7.4 नाटक और रंगमंच के अंतःसंबंधों में संगति

नाटक रंगमंचीय विधा है। नाटक की सही परीक्षा रंगमंच पर होती है। नाटक को हम सुनते भी हैं और देखते भी हैं। नाटक जब मंचित होता है तो उसमें केवल पात्र ही नहीं बोलते - पूरा मंच बोलता है - मंच सज्जा, रूप सज्जा, वेशभूषा सभी बोलते हैं। यहाँ तक कि पात्र का पूरा शरीर बोलता है। अतः जिस नाटक में जितनी ही अधिक मंचीय संभावनाएँ होती हैं, वह नाटक उतना ही अधिक सफल होता है। रंगमंच सजीव और साकार कला माध्यम है। रंगमंच का तात्पर्य केवल रंगस्थली या रंग - मंडप से नहीं है। इसकी परिधि में रंगशाला, नाटक, पात्र, वेश-भूषा, अभिनय, मंचीय उपकरण आदि सभी आ जाते हैं। रंगमंच ऐसा दृश्य और श्रव्य माध्यम है, जिसमें सभी ललित कलाएँ समन्वित हो जाती हैं। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में लिखा है कि ऐसा कोई भी ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग या कर्म नहीं है जो नाट्य में न हों।

रंगमंच का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। इसकी ओर शिक्षित और अशिक्षित, सभी आकृष्ट होते हैं। सामूहिक कला होने के कारण रंगमंच से दर्शकों में भावात्मक एकता स्थापित होती है। इससे दर्शकों का मनोरंजन तो होता ही है, साथ ही यह उनको अपनी सांस्कृतिक परम्परा से भी जोड़ता है, और उनके मानस को परिष्कृत करता है। इससे समाज में मानवीय मूल्यों की स्थापना होती है। रंगमंच कथ्य को व्यापकता के साथ अभिव्यक्त करता है और इसका प्रभाव भी दर्शकों पर गहरा पड़ता है, क्योंकि यह गतिशील कार्य व्यापार से युक्त है। यह दर्शकों को सीधे कलाकृति से जोड़ता है।

नाटक और रंगमंच का संबंध अन्योन्याश्रित है। बिना रंगमंच के नाटक अपूर्ण है और बिना नाटक के रंगमंच। जो नाटककार रंगमंच की सीमाओं को जानता है और उनको दृष्टि में रखकर नाटक लिखता है, उसके नाटक प्रायः अधिक सार्थक और मंच के अनुकूल होते हैं। वैसे तो पर्याप्त साधन और मंचीय उपकरण उपलब्ध होने पर जटिल और गंभीर नाटक भी मंचित कर लिए जाते हैं, पर उनसे रंगमंच का व्यापक विकास नहीं हो पाता। हिंदी का रंगमंच अभी अधिक समृद्ध नहीं है अतः इसके लिए सहज अभिनेय नाटक ही उपयुक्त है। मोहन राकेश के सभी नाटक, रंगमंचीय सीमाओं को दृष्टि में रखकर लिखे गये हैं। मोहन राकेश नाट्य लेखन को बड़ी गंभीरता से लेते थे और हर नाटक पर पर्याप्त श्रम करते थे। उन्होंने रंगनिर्देशक के साथ मिलकर अपने नाटकों में रंगमंचीय अपेक्षाओं के अनुसार सुधार भी किया।

मोहन राकेश के तीनों ही नाटक एक मंचबन्ध में संयोजित हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' का कथ्य तीन अंकों में विभक्त है और तीनों ही अंक एक-एक दृश्य के हैं। अंकों का 'सेट' मल्लिका के घर का कमरा है। मंच सज्जा यथार्थवादी है, लेकिन एक बार 'सेट' लगा देने के बाद फिर उसे हटाना नहीं पड़ता। इसी तरह 'लहरों के राजहंस' नाटक भी तीन अंकों का है - सभी अंक एक-एक दृश्य के हैं। पूरा नाटक सुंदरी के कक्ष में ही चलता है। मंच सज्जा इसमें भी यथार्थवादी है। मंच पर रखी गयी, पुरुष और नारी मूर्ति प्रतीकात्मक है - दायीं और शिखर पर पुरुष-मूर्ति, बाहें फैली हुई तो आँखें आकाश की ओर उठी हुई। बायीं और शिखर पर नारी-मूर्ति, बाहें संवलित तथा आँखें धरती की ओर झुकी हुई। 'आधे-अधूरे' नाटक का कथ्य दो भागों में विभक्त हैं, दोनों भाग एक दृश्यीय हैं। दोनों भागों के मध्य, छोटा-सा 'अंतराल-विकल्प' है। मंच-बंध एक है - सावित्री के घर का एक कमरा। इस नाटक की मंच सज्जा भी यथार्थवादी है।

मोहन राकेश ने अपने तीनों नाटकों में, मंच सज्जा, वेश-भूषा और अभिनय के पर्याप्त निर्देश दिये हैं। 'आधे-अधूरे' में अभिनय से संबंधित निर्देश काफी विस्तृत हैं। एक संश्लिष्ट निर्देश का

स्वरूप इस प्रकार है - 'हल्के अभिवादन के रूप में सिर हिलाता है, जिसके साथ ही उसकी आकृति धीरे-धीरे धुँधलाकर अँधेरे में गुम हो जाती है। उसके बाद कमरे के अलग-अलग कोने एक-एक करके आलोकित होते हैं और एक आलोक व्यवस्था में मिल जाते हैं। कमरा खाली है। तिपाई पर खुला हुआ हाई स्कूल का बैग पड़ा है जिसमें से आधी कापियाँ और किताबें बाहर बिखरी हैं। सोफे पर दो-एक पुराने मैगज़ीन, एक कैंची और कुछ कटी-अधकटी तस्वीरें रखी हैं। एक कुरसी की पीठ पर उतरा हुआ पाजामा झूल रहा है। स्त्री कई-कुछ सँभाले बाहर से आती है। कई-कुछ में कुछ घर का है, कुछ दफ्तर का, कुछ अपना। चेहरे पर दिन-भर के काम की थकान है और इतनी चीज़ों के साथ चलकर आने की उलझन। आकर सामान कुरसी पर रखती हुई वह पूरे कमरे पर एक नज़र डाल लेती है।' मोहन राकेश के नाटकों में दिये गये रंग-संकेत, नाटककार की रंगमंच में गहरी पैठ के परिचायक हैं।

मोहन राकेश ने अपने नाटकों में संकलन-त्रय पर भी ध्यान रखा है। वे स्थान, काल और समय का पूरा ध्यान रखते हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में अंकों के बीच कुछ वर्षों का अंतराल है। 'लहरों के राजहंस' नाटक की पूरी कथा चौबीस घंटे की अवधि में संयोजित है। इसी प्रकार 'आधे-अधूरे' नाटक के बीच का अंतराल भी एक दिन का ही है। नाटक के स्थान में तो वे कोई परिवर्तन करते ही नहीं। प्रत्येक नाटक एक स्थान में ही घटित होता है।

मोहन राकेश नाटक के वस्तु संयोजन में भी बड़े कुशल हैं। वे वस्तु को बड़े स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक ढंग से संयोजित करते हैं। वस्तु अपने पूरे कार्य व्यापार के साथ आगे बढ़ती है। कहीं-कहीं वे पात्र के प्रवेश के पूर्व ही उसकी भाव-भूमि निर्मित कर देते हैं, इससे कथ्य सहज ही गतिशील हो जाता है। 'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास के प्रवेश के पूर्व ही अम्बिका और मल्लिका के वार्तालाप द्वारा, कालिदास के मनोभाव और स्थिति को स्पष्ट कर दिया जाता है। इसके साथ ही कहीं-कहीं पात्र के अचानक प्रवेश द्वारा कौतूहल की सृष्टि की गयी है। मोहन राकेश विचार को, प्रायः संवेदना से जोड़कर प्रस्तुत करते हैं, इससे नाटक में नीरसता नहीं आने पाती। कहीं-कहीं रोचक प्रसंगों की भी अवतारणा की गयी है, पर थे प्रसंग मूल कथा से पूरी तरह जुड़े हैं। जैसे 'आषाढ़ का एक दिन' में अनुस्वार और अनुनासिक का कार्य-व्यापार।

रंगमंचीय भाषा, शब्द की संगति और लय-ध्वनि पर भी राकेश पूरा ध्यान रखते हैं। रंगमंचीय भाषा की दृष्टि से 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा एक मानक है। सहज, स्वाभाविक और गतिशील भाषा का प्रयोग इस नाटक में किया गया है। एक उदाहरण देखिए - 'तुम्हारा घर है तुम बेहतर जानती हो। कम-से-कम मानकर यही चलती हो। इसीलिए बहुत कुछ चाहते हुए भी मुझे अब कुछ भी संभव नजर नहीं आता। और इसीलिए फिर एक बार पूछना चाहता हूँ तुमसे - क्या सचमुच किसी तरह तुम उस आदमी को छुटकारा नहीं दे सकती?'

मोहन राकेश की दृष्टि नाटक लिखने में पूरे रंग-तंत्र पर रहती है। इस संदर्भ में जीवन प्रकाश जोशी का एक कथन उल्लेख्य है - 'राकेश का दृश्य-विधान, रंगमंचीय साज-सज्जा, मनोभावों के अभिव्यक्ति सूचक स्थिति संकेत, वाद्य-वादन, स्वर-संचरण, कथोपकथन, व्यावहारिक अथवा परिस्थितिजन्य प्रकट अंतर्द्वंद्व, भाषा-शैली, चरित्र-घटना की एक आंतरिक अन्विति, अवांतर घटनाओं की संयोजना और सुष्ठु अभिव्यक्ति, इस नाटककार के नाटकों को, अधिकतर, अनौपचारिक अतः आस्वाद्य योग्य बनाये रखती है।' मोहन राकेश वस्तु और शिल्प-दोनों स्तर पर रंगमंच से संगति स्थापित करते हैं। उन्होंने अपने नाटकों में परम्परा और आधुनिकता का बड़ा सुंदर समन्वय किया है। एक ओर परिमार्जित भाषा है तो दूसरी ओर रंगमंचीय भाषा की व्यापक भूमि। कहना न होगा कि मोहन राकेश तीन नाटक लिखकर, जो कार्य कर गये, वह दर्जनों नाटक लिखने के बाद भी दूसरे नाटककार नहीं कर सके। मोहन राकेश के नाट्य लेखन के पीछे उनकी अनवरत साधना, रंगमंच के प्रति उनकी अटूट निष्ठा और कला के प्रति दायित्वबोध की महत्वपूर्ण भूमिका है।

7.5 मोहन राकेश और 'आधे-अधूरे'

मोहन राकेश के नाटकों पर टिप्पणी करते हुए प्रख्यात नाट्य आलोचक नेमिचंद्र जैन ने कहा है, "हिंदी नाटक के क्षितिज पर मोहन राकेश का उदय उस समय हुआ जब स्वाधीनता के बाद पचास के दशक में सांस्कृतिक पुनर्जागरण का ज्वार देश में, जीवन के हर क्षेत्र को स्पन्दित कर रहा था। उनके नाटकों ने न सिर्फ हिंदी नाटक का आस्वाद, तेवर और स्तर ही बदल दिया, बल्कि हिंदी रंगमंच की दिशा को भी प्रभावित किया।" मोहन राकेश से पहले भी हिंदी में कई नाटककार हुए जिन्होंने हिंदी में नाटक-लेखन की परंपरा को समृद्ध किया। भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर मोहन राकेश तक की अवधि के बीच जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेंद्रनाथ अश्क, जगदीशचंद्र माथुर, लक्ष्मीनारायण लाल आदि कई नाटककार हुए। लेकिन भारतेंदु के नाटक 'अंधेर नगरी' को छोड़कर कोई भी नाटक ऐसा नहीं था जिसे प्रदर्शन की दृष्टि से भी कामयाब कहा जा सके। जयशंकर प्रसाद (जिनके नाटक 'स्कंदगुप्त' का आपने अध्ययन किया है) के नाटकों की साहित्यिक उत्कृष्टता और रचनात्मक मौलिकता को सभी ने स्वीकार किया, लेकिन उनके नाटक मंच पर प्रस्तुति की दृष्टि से चुनौतीपूर्ण ही बने रहे। नाटककार यह मानते रहे कि उनके नाटक साहित्यिक कृति के रूप में उत्कृष्ट हों, भले ही रंगमंच पर उनको उतनी सफलता न मिले। परिणाम यह हुआ कि हिंदी रंगमंच का अपना स्वतंत्र विकास अवरुद्ध बना रहा या हिंदी में नाटक खेले भी गए तो वे अनूदित नाटक थे। रंगमंच के संबंधों की इस दूरी को पाटने का काम मोहन राकेश के नाटकों ने किया। जैसा कि इसी इकाई में हम मोहन राकेश के कथन को उद्धृत कर चुके हैं जिसमें उन्होंने कहा था कि "लिखा गया नाटक हड्डियों के ढाँचे की तरह है जिसे रंगमंच का वातावरण ही मासंलता प्रदान करता है।" मोहन राकेश की यह दृष्टि प्रसाद की दृष्टि से पूर्णतः अलग थी। प्रसाद का तो मानना था कि, "रंगमंच की बाध्य-बाधकता का जब हम विचार करते हैं, तो उसके इतिहास से यह प्रकट होता है कि काव्यों के अनुसार प्राचीन रंगमंच विकसित हुए और रंगमंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नहीं हुए। अर्थात् रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और यह प्रत्येक काल में माना जाएगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं। प्रसाद के इस सोच ने ही उनके नाटकों को मंच के लिए लगभग अनुपयोगी बना दिया।

प्रसाद के बाद के दौर में लिखे गए नाटकों में रंगमंच से इतना अलगाव तो नहीं दिखाई दिया, लेकिन उनमें से ज्यादातर नाटक कथ्य और अभिनेयता दोनों दृष्टियों से साधारण ही साबित हुए। नाटक के माध्यम से अपने समय और समाज के ऐसे प्रश्नों को भी प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसकी प्रस्तुति समय और समाज की सीमाओं को तोड़ती भी हो। 'आषाढ़ का एक दिन' हिंदी का ऐसा ही पहला नाटक था। उस समय के हिंदी नाटक के परिदृश्य पर टिप्पणी करते हुए नेमिचंद्र जैन लिखते हैं "हिंदी नाटक की इस यात्रा में 'आषाढ़ का एक दिन' कई प्रकार से एक महत्वपूर्ण पड़ाव तो है ही, इस दौर के नाटक-लेखन की श्रेष्ठतम उपलब्धियों में गिनने योग्य भी है। एक प्रकार से उपेन्द्रनाथ अश्क और जगदीशचंद्र माथुर ने, विशेषकर जगदीशचंद्र माथुर ने, नाटक में सहज स्वाभाविकत और नाटकीयता के, यथार्थपरकता और काव्यात्मकता के, जिस मिश्रण का सूत्रपात किया, उसकी महत्वपूर्ण परिणति 'आषाढ़ का एक दिन' में हुई है।"

'आषाढ़ का एक दिन' की अपार सफलता ने मोहन राकेश को एक नाटककार के रूप में भी व्यापक-प्रतिष्ठा मिली। इसके बाद के उनके दोनों नाटकों ने उनको प्रसादोत्तर काल का निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ नाटककार बना दिया। हालांकि बाद के दोनों नाटकों को 'आषाढ़ का एक दिन' की तुलना में कमजोर माना गया। इस दृष्टि से उनका तीसरा नाटक 'आधे-अधूरे' ज्यादा विवादास्पद रहा। जैसा कि इब्राहीम अलकाजी ने लिखा था, "यह रचना तेज़ वाद-विवाद का बायस बनी। जहाँ एक ओर समीक्षकों ने इसे आधुनिक भारतीय रंगमंच में एक अन्यतम कृति और हिंदी नाटक में पहली गंभीर उपलब्धि माना, वहीं दूसरी ओर कलात्मक दृष्टि से

असार्थक लेखन कहकर इस पर प्रहार भी किया गया जो मध्यवर्ग का ऐसा एकतरफा विरूपित चित्रण करता है, जिसकी कोई सामाजिक प्रासंगिकता नहीं।" सत्यदेव दुबे ने नाटक के सफल रंग-प्रदर्शन पर टिप्पणी करते हुए लिखा था, "इस नाटक ने इस मिथक को ध्वस्त कर दिया कि हिंदी नाटककार समकालीन स्थितियों और हमारे जीवन से जुड़े हुए चरित्रों को लेकर नाटक नहीं लिख सकता। 'आधे-अधूरे' साहित्य और रंगमंच दोनों पर खरा उतरा। आज तक भारत में कहीं भी हिंदी में प्रस्तुत होने वाले नाटकों में यह सबसे सफल है।" इस बात को स्वीकार करते हुए भी नेमिचंद्र जैन का मानना है कि "...'आधे अधूरे' कोई बड़ा विक्षोभकारी सर्जनात्मक अनुभव नहीं प्रस्तुत करता। आज के हमारे समाज में बहुस्तरीय पारिवारिक या स्त्री-पुरुष संबंधों की कोई गहरी या सूक्ष्म पहचान भी उससे नहीं मिलती। बल्कि शायद हिंदी रचना-जगत की संपूर्ण सर्जनात्मक चेतना के संदर्भ में 'आधे-अधूरे' की विषय-वस्तु और उसके कलात्मक विस्तार में, एक ओर, घिसे-पिटेपन का, और दूसरी ओर, पश्चिमी समाज के सामाजिक संबंधों के साँचों की सतही पुनरावृत्ति का आभास होता है। उस तरह की ताज़गी का एहसास नहीं होता जैसा 'आषाढ़ का एक दिन' में हुआ था।"

मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की जिस ताज़गी की बात नेमिचंद्र जैन ने की है, उसका संबंध नाटक के कथ्य और संरचना दोनों से है। लेकिन बाद के नाटकों में कई समीक्षकों को यह प्रतीत होने लगा कि मोहन राकेश उसी कहानी को दोहरा रहे हैं जिसे वे 'आषाढ़ का एक दिन' में कह चुके हैं यद्यपि संदर्भ तीनों नाटकों में अलग-अलग हैं। इस एकरूपता और एकरसता को ही व्याख्यायित करते हुए नेमिचंद्र जैन ने लिखा था, "उनके तीनों नाटकों की विषयवस्तु पुरुष पात्र से जुड़ी है, पर हर नाटक का केंद्रीय चरित्र स्त्री बन जाती है। चाहे वे कालिदास-मल्लिका हों, नंद-सुंदरी हों, चाहे सावित्री-महेंद्रनाथ। तीनों नाटकों में गलत स्त्री ही होती है। पुरुष उसे छोड़कर चले जाने के लिए मजबूर दिखाई पड़ता है। 'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास और 'लहरों के राजहंस' में नंद एकबार वापस लौटकर दोबारा जाते हैं।'आधे-अधूरे' में महेंद्रनाथ लौटता तो है, पर फिर जाता नहीं, वहीं रहने को मजबूर है। न जाने क्यों राकेश अपने नाटकों में स्त्री-पुरुषों के बीच चरम साक्षात्कार कराने से कतराते हैं। उनके सभी पुरुष पात्र स्त्री से खीझकर, निराश होकर, या अन्य किसी कारण से, खिसक जाने वाले भगोड़े हैं। वे अपने संबंधों की नियति का सामना करन से बचते हैं। ऐसा लगता है कि एक ही अनुभव छोटे-छोटे परिवर्तन के साथ बार-बार दोहराया जा रहा है। उसमें ताज़गी, या आयाम अथवा स्तर की नवीनता, बहुत ही कम है। महेंद्रनाथ और जुनेजा के साथ सावित्री के बहुत से संवादों में 'लहरों के राजहंस' के नये रूप में नंद और सुंदरी के बीच अंतिम संवादों की बहुत ज्यादा अनुगूंज है।"

इन सारी सीमाओं के बावजूद 'आधे-अधूरे' नाटक का प्रदर्शन अत्यंत सफल रहा बल्कि कई समीक्षकों की दृष्टि में यह हिंदी का पहला सफलतम नाटक था। इसमें सातवें दशक में शहरी मध्यवर्गीय पारिवारिक और सामाजिक जीवन का जो यथार्थ प्रस्तुत किया गया था, वह उन दर्शकों के जीवन और मन के बहुत नज़दीक था और कहीं-न-कहीं इस नाटक ने उनके अपने अनुभव संसार को पुनर्सृजित कर दिया था। लेकिन यह सृजन उस मध्यवर्ग की अपनी भाषा और अपने मुहावरे में था। यह एक बड़ी उपलब्धि थी और इसी ने इसे सफल और सार्थक नाटक बनाया।

7.6 सारांश

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के दूसरे खंड की इस पहली इकाई में आपने मोहन राकेश के नाटकों के बारे में अध्ययन किया है। मोहन राकेश 'नयी कहानी' आंदोलन से जुड़े रचनाकार थे। कहानियों और उपन्यासों के अलावा आपने नाटक भी लिखे। हिंदी नाटक परंपरा में मोहन राकेश के नाटकों का विशिष्ट स्थान है।

मोहन राकेश ने कुल चार नाटक लिखे। 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'आधे-अधूरे' और 'पैर तले की ज़मीन'। 'पैर तले की ज़मीन' उनका आखरी नाटक था, जिसे वे पूरा नहीं कर सके। 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' इतिहास आधारित नाटक हैं जबकि शेष दोनों नाटकों की कथा समकालीन यथार्थ पर आधारित हैं। इन सभी नाटकों में उठाई गई समस्याओं का संबंध वर्तमान समय से है।

मोहन राकेश का मानना था कि नाटक की सफलता और सार्थकता उसके रंगमंच पर प्रदर्शन से ही आंकी जा सकती है। इस दृष्टि के कारण उनके नाटक रंगमंच पर प्रदर्शन के सर्वथा अनुकूल थे। उनके सभी नाटकों को मंच पर सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया जाता रहा है। इस दृष्टि से 'आधे-अधूरे' का विशिष्ट स्थान है।

'आधे-अधूरे' में शहरी मध्यवर्ग के विघटित होते परिवार की कहानी कही गई है। व्यवसाय में असफल पति, जीवन के अधूरेपन से त्रस्त पत्नी और पति-पत्नी के तनाव और झगड़ों के बीच भविष्य के प्रति निराश बच्चों के पारस्परिक द्वंद्व की कहानी 'आधे-अधूरे' में है।

'आधे-अधूरे' एक विवादास्पद रचना भी रही है, लेकिन रंगमंच पर इसकी अभूतपूर्व सफलता ने इसको श्रेष्ठ नाट्यकृति के रूप में स्थापित कर दिया है। 'आधे-अधूरे' के विभिन्न पक्षों का विवेचन इकाई 8 और 9 में भी पढ़ेंगे।

अभ्यास

1. मोहन राकेश के नाट्य संबंधी विचारों की समीक्षा प्रस्तुत कीजिए।
2. मोहन राकेश के नाटकों का परिचय देते हुए उनके महत्व और प्रासंगिकता का उल्लेख कीजिए।
3. हिंदी नाटक परंपरा में 'आधे-अधूरे' का स्थान निर्धारित कीजिए।

इकाई 8 सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में 'आधे-अधूरे'

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 मध्यवर्गीय जीवन और 'आधे अधूरे' का कथ्य
8.3 स्त्री-पुरुष : संबंध-विश्लेषण
8.4 'आधे-अधूरे' में चरित्र-सृष्टि
8.5 'आधे-अधूरे' का परिवेश
8.6 'आधे-अधूरे' की भाषा और संवाद
8.7 सारांश

8.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के खंड-2 की दूसरी इकाई है। इसके अंतर्गत हम समकालीन भारतीय मध्यवर्गीय जीवन के परिप्रेक्ष्य में मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' का अध्ययन करेंगे। मोहन राकेश के इस नाटक की कथावस्तु शहरी मध्यवर्ग के जीवन यथार्थ पर आधारित है। इसलिए यह ज़रूरी है कि हम इस बात को समझें कि मध्यवर्ग से क्या तात्पर्य है, उसकी विशेषताएँ क्या-क्या हैं और 'आधे-अधूरे' के संदर्भ में मध्यवर्ग का प्रश्न किस रूप में उपस्थित होता है।

मध्यवर्गीय जीवन पर आधारित होने के कारण इस नाटक के कथ्य को उसी के संदर्भ में समझना होगा। इस इकाई में आप मध्यवर्गीय जीवन के संदर्भ में 'आधे-अधूरे' के कथ्य को समझ सकेंगे।

इस नाटक में स्त्री-पुरुष संबंधों को ही कथा का आधार बनाया गया है। इसलिए यह ज़रूरी है कि स्त्री-पुरुष संबंधों के बारे में राकेश की दृष्टि का विवेचन कर उसे समझने का प्रयत्न करें। इस इकाई में इस पहलू पर भी विचार किया जाएगा।

'आधे-अधूरे' की चरित्र-सृष्टि से साक्षात्कार करना भी नाटक को समझने के लिए ज़रूरी है। इस नाटक में जो पात्र आते हैं, वे मध्यवर्ग की विभिन्न प्रवृत्तियों और मनोवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए नाटक के पात्रों को इस दृष्टि से समझना ज़रूरी है।

इस नाटक का परिवेश शहरी है और शहरी जीवन में आने वाले परिवर्तनों को नाटककार किस हद तक प्रस्तुत करने में कामयाब है, इकाई में इस पर भी विचार किया जाएगा।

'आधे-अधूरे' की भाषा-संवाद संबंधी विशेषताओं पर इकाई में विचार किया जाएगा। नाटक की मंचीय प्रस्तुति में उसकी भाषा का महत्वपूर्ण योगदान होता है, इस बात को याद रखने की ज़रूरत है।

8.1 प्रस्तावना

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम-4 से संबंधित यह दूसरे खंड की दूसरी और पाठ्यक्रम की आठवीं इकाई है। इसकी सातवीं इकाई में आप मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' और 'आधे-अधूरे' का परिचय प्राप्त करने के साथ-साथ नाटक और रंगमंच के

अंतःसंबंधों में संगति तथा राकेश के नाट्य-चिंतन का अध्ययन कर चुके हैं। यहाँ हम समकालीन भारतीय मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ परिप्रेक्ष्य में 'आधे-अधूरे' के कथ्य, स्त्री-पुरुष संबंध, चरित्रांकन, परिवेश और इसके भाषा-संवादों के विवेचन एवं विश्लेषण का प्रयत्न करेंगे।

राकेश का यह नाटक 19 और 26 जनवरी तथा 2 फरवरी, 1969 को साप्ताहिक पत्रिका 'धर्मयुग' के तीन अंकों में क्रमशः छपा। साथ ही साथ इसके अभिमंचन की भी तैयारी होती रही और दिल्ली की नाट्य-संस्था 'दिशांतर' द्वारा ओम शिवपुरी के निर्देशन में 2 मार्च, 1969 को प्रदर्शित भी कर दिया गया। कुछ ही समय के अंतराल से इसका पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो गया। राकेश की रचनाओं पर उनके अपने जीवन की प्रत्यक्ष छाप रही है। अतः स्पष्ट है कि इसमें प्रस्तुत परिवार, परिवेश, पात्रों और अनुभव का संबंध राकेश द्वारा देखे और भोग गए छठे-सातवें दशक के भारतीय, महानगरीय, मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ से है और उसी संदर्भ में हमें इसका अध्ययन भी करना चाहिए।

मध्यवर्ग के पारिवारिक और सामाजिक जीवन में जो परिवर्तन हो रहे थे, उसका प्रभाव हमारी पारिवारिक और सामाजिक संरचना पर बहुत गहरा पड़ा। संयुक्त परिवार से एकल परिवार और एकल परिवार में भी पति-पत्नी और बच्चों के आपसी रिश्ते वही नहीं रह गए थे जो परंपरागत परिवारों में थे। 'आधे-अधूरे' का संबंध इस परिवर्तन से बहुत गहरा है। इस इकाई में आप इस परिप्रेक्ष्य में नाटक की विशेषताओं को समझ सकेंगे।

8.2 मध्यवर्गीय जीवन और 'आधे-अधूरे' का कथ्य

'आधे-अधूरे' न केवल समकालीन हिंदी नाट्य-लेखन बल्कि राकेश के पूर्ववर्ती दोनों नाटकों से भिन्न आधुनिक मध्यवर्गीय जीवन, अनुभव और परिवेश से सीधे साक्षात्कार करने वाला पहला सार्थक एवं प्रामाणिक नाटक है। यह मौजूदा महानगरीय भारतीय पारिवारिक जीवन की विडम्बना के कुछेक सघन बिंदुओं और स्त्री-पुरुष संबंधों की विसंगतियों का जीवन्त रेखांकन करता है। इसके यथार्थपरक कथ्य को समझने से पहले हमारे लिए भारतीय परिप्रेक्ष्य में मध्यवर्ग की अवधारणा और उसकी विशेषताओं को जान लेना उपयोगी और आवश्यक होगा।

मध्यवर्ग की अवधारणा : उद्भव और विकास

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। आर्थिक स्थिति, सामाजिक स्तर और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समाज व्यक्ति-समूहों के कई वर्गों में विभक्त हो जाता है। व्यक्ति को वर्ग विशेष में प्रतिष्ठित करने के लिए उसकी आय, संपत्ति, आर्थिक दृष्टिकोण, वंश-परंपरा, रहन-सहन का स्तर और शिक्षा आदि का ध्यान रखा जाता है। आदिम कबीलों की आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था, मानव-जाति की वर्ग-विहीन स्थिति का संकेत देती है। परंतु उसके बाद के समाज और विशेषतः मध्य युग में उत्पादन-वृद्धि और व्यक्तिगत संपत्ति की बढ़ती हुई लालसा ने समाज को मुख्यतः उच्च (शोषक) और निम्न (शोषित) वर्गों में विभाजित कर दिया। वैज्ञानिक प्रगति, औद्योगिक क्रांति और पूंजीवादी व्यवस्था ने विश्व की आर्थिक-सामाजिक औरर बौद्धिक अवस्था पर व्यापक प्रभाव डाला और 18वीं शताब्दी के अंत में उच्च और निम्न के बीच एक तीसरे वर्ग का जन्म हुआ, जिसे मध्यवर्ग कहा गया। कुछ आर्थिक-सामाजिक चिंतकों के अनुसार सन् 1812 से पहले किसी वर्ग के लिए मध्यवर्ग शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। स्पष्ट है कि 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में मध्यवर्ग उभरा और पूंजीवादी औद्योगिक व्यवस्था के साथ बढ़ता चला गया। मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष के ऐतिहासिक विकास की विवेचना करते हुए उच्च, निम्न और मध्यवर्ग को ही क्रमशः 'बुर्जुआ', 'प्रोलेतेरियत' और 'पैटी बुर्जुआ' कहा है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखें तो आदिम वर्गविहीन समाज के बाद यहाँ प्रचलित वर्ण-व्यवस्था मोटे तौर से वर्ग-व्यवस्था का सामाजिक रूप ही है। अंग्रेज़ों से पहले भारत में मौजूद संयुक्त परिवार, कृषि-व्यवस्था और घरेलू उद्योगों पर आधारित व्यवस्था अपने आप में एक पूर्ण इकाई थी।

16वीं शताब्दी में कुछ पाश्चात्य देशों के संपर्क से भारतीय जीवन और समाज में हलचल-सी महसूस की गई। मुगल-शासन के पतन के साथ शासन-सूत्र अंग्रेज़ों के हाथों में चला गया। अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के चलते भारतवर्ष में मध्यवर्ग के विकास में अंग्रेज़ी शिक्षा के अतिरिक्त औद्योगिक विकास, शहरीकरण, अर्द्धविकसित पूंजीवादी व्यवस्था, व्यापार, बैंकिंग प्रणाली, प्रेस, संचार और यातायात के साधनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। देश की आज़ादी के साथ हुए विभाजन और उसके बाद के पचास वर्षों में हुए बहुआयामी विकास तथा लगातार बढ़ते भ्रष्टाचार ने मध्यवर्ग का असंतुलित विकास किया, जिसके कारण मध्यवर्ग के तीन स्पष्ट स्तर/भेद दिखाई देने लगे - उच्चवर्ग, मध्यवर्ग और निम्न-मध्यवर्ग।

मध्यवर्ग की विशेषताएँ

यह मुख्यतः पढ़े-लिखे लोगों का वर्ग है। सरकारी और गैर-सरकारी संस्थानों में ऊँचे-ऊँचे या छोटे-छोटे पदों पर काम करने वाले नौकरीपेशा अफसर-कर्मचारी, प्रोफेसर, वकील, डॉक्टर, लेखक, आर्कीटैक्ट, इंजीनियर, व्यापारी और औसत दर्जे के उद्यमी-उद्योगपति इत्यादि मध्यवर्ग में आते हैं। इस वर्ग का चरित्र लचीला तथ अंतर्विरोधी है। ब्रिटिश शासन में उसकी नौकरशाही को चलाने वाले और उसका विरोध कर आज़ादी की लड़ाई लड़ने वाले बुद्धिजीवी इसी वर्ग से आए थे। अपनी महत्वाकांक्षाओं के चलते अपने मौजूदा वर्ग से, कुछ भी करके, अपने से ऊपर वाले वर्ग में जाने के लिए प्रयत्नरत ये लोग परिस्थितियों की मार से पिटकर लगातार निचले वर्ग की ओर धकेले जाते रहते हैं। इससे इनमें एक सतत तनाव और अंतर्द्वंद्व की स्थिति पाई जाती है। अपनी सुरक्षा और सुविधा के लिए यह वर्ग प्रायः किसी भी समझौते और अवसरवादिता के लिए तैयार रहता है। सोचने-कहने और करने के बीच की खाई तथा दिखावे की भावना इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। अनेक परिस्थितियों के चलते, इस वर्ग के उदय के साथ-साथ संयुक्त परिवार व्यवस्था टूटी। परिवार छोटे और पति-पत्नी केंद्रित होते गए। नारी-शिक्षा के कारण समानाधिकारों की माँग करती स्त्री स्वालम्बन और आर्थिक स्वतंत्रता की ओर बढी। स्त्री के घर से बाहर निकलने तथा अन्य पुरुषों के संपर्क में आने से स्वच्छंद प्रेम-संबंधों को बढावा मिला। पुरुष के परम्परागत संस्कारों और स्त्री के नवअर्जित स्वतंत्र-व्यक्तित्व के कारण अहं का टकराव शुरू हुआ। स्त्री-पुरुष संबंधों में संघर्ष, पारिवारिक मूल्यों तथा सेक्स संबंधी नैतिकता के मानदण्डों में बदलाव आया। भारतीय समाज में परम्परागत मूल्यों में परिवर्तन, विवाह-संस्था में दरारें और परिवारों में विघटन की यह प्रक्रिया छठे-सातवें दशक में महानगरों से शुरू हुई और क्रमशः शहरों और कस्बों तक फैलती चली गई। मनोवैज्ञानिक स्तर पर यह वर्ग लगातार असंतुष्ट, अनिश्चित, आत्म-प्रदर्शनकारी, चिड़चिड़ा, निराश, मूल्यहीन और कुंठित होता गया है।

मध्यवर्ग और 'आधे-अधूरे' का कथ्य

'आधे-अधूरे' की पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्थितियों पर गंभीरता से विचार करें तो निम्नलिखित तथ्य स्पष्टतः हमारे सामने उभरकर आते हैं :

- इसका स्थान और परिवेश महानगर दिल्ली है - 'काफी अच्छा आदमी है जगमोहन! और फिर से दिल्ली में उसका ट्रांसफर भी हो गया है। मिला था उस दिन कनॉट प्लेस में' - पुरुष एक।'

- उसका समय छठे दशक के आसपास का है, जब केवल पाँच पैसे में अखबार आ जाता था और रुपए-डेढ़ रुपए में स्कूटर से आया-जाया जा सकता था। दृष्टव्य : बड़ी लड़की के प्रवेश के बाद पुरुष एक के संवाद।

डेढ़-दो दशक पहले यह एक व्यवसायी परिवार था, जिसमें घर में सोफा सेट, कबर्ड, डायनिंग और ड्रेसिंग टेबल है। पुरुष एक (महेंद्रनाथ) ने मित्र जुनेजा के साथ मिलकर पहले प्रेस और फिर फैक्ट्री लगाई थी। जब 'चार सौ रुपए मकान का किराया था। टैक्सियों में आना-जाना होता था। किस्तों पर फ्रिज खरीदा गया था। लड़के-लड़की की कान्वेंट की फीसें जाती थीं....।'

'शराब आती थी। दावतें उड़ती थीं।....'। अर्थात् पति-पत्नी तथा बच्चे सभी शिक्षित हैं। आर्थिक स्थिति अच्छी है और समाज में प्रतिष्ठा है। स्पष्ट है कि यह एक उच्च-मध्यवर्गीय परिवार है।

लेकिन इस बीच, प्रेस और फैक्ट्री बंद हो गई। महेंद्रनाथ कर्ज़दार, बेरोज़गार और निकम्मा हो गया। बेटे ने पढ़ाई बीच में छोड़ दी और फिर नौकरी भी। बड़ी बेटी ने घर से भागकर माँ के प्रेमी से चुपचाप शादी कर ली। छोटी बेटी अभी जैसे-तैसे पढ़ रही है और प्रतिदिन कुंठित और उद्दण्ड होती जा रही है। स्त्री (सावित्री) बेहतर ज़िंदगी के लिए किसी पूरे पुरुष की तलाश में यहाँ-वहाँ भटकते और नौकरी करते हुए बमुश्किल तमाम किसी तरह घर की गाड़ी खींच रही है।

आज घर में रखे सोफ़ा सेट, कबर्ड, डाइनिंग और ड्रेसिंग टेबल, कुर्सियाँ, टी-सेट इत्यादि टूटी-फूटी हालत में हैं और गद्दे, परदे, मेज़पोश और पलंगपोश घिसे, फटे या सिले हुए हैं। घर के सभी सदस्यों में असंतोष, तनाव, घुटन, टूटन और संघर्ष की स्थिति है। स्पष्ट है कि यह एक निम्न मध्यवित्तीय स्तर का घर है, जिसमे एक विघटित होते परिवार का जीवंत चित्रण हुआ है। 'घर' की तलाश राकेश के जीवन का प्रमुख उद्देश्य और उनके नाटकों का मूल कथ्य रहा है। 'आधे-अधूरे' में भी टूटते संबंधों और बिखरते परिवार के चित्रण के माध्यम से राकेश का केंद्रीय सरोकार घर की तलाश ही है।

'आधे-अधूरे' हमारे आज के समाज के ऐसे तमाम लोगों की अभिशप्त ज़िंदगी का प्रामाणिक दस्तावेज़ है जिन्होंने जीवन की तमाम इच्छाओं-आकांक्षाओं और उपलब्धियों को भौतिक सुख-सुविधाओं से जोड़ लिया और इस मृग मरीचिका में फंसकर पारिवारिक संबंधों की सहज प्राप्य आत्मीयता, ऊष्मा और भावनात्मक सुरक्षा तथा आत्मिक शांति को पूरी तरह खो दिया। सांसारिक अर्थ के चक्कर में जीवन का मूल अर्थ ही कहीं गुम हो गया। मोहन राकेश के शब्दों में इस नाटक में, 'अधूरे का मतलब इनकम्पलीट और आधे का मतलब हॉफ़ है। यह आज के सामान्य वर्ग से संबंधित है जो अपने में 'आधा' भी है और 'अधूरा' भी। यह इस शहर के एक मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है जिसे परिस्थितियाँ निचले वर्ग की ओर धकेलती जा रही हैं। उनके जोश, पराजय, इच्छाएँ, संघर्ष और इसके साथ-साथ स्थिति का हाथ से फिसलते जाना - मैंने सब कुछ इसमें दिखाने की कोशिश की है।' विडम्बना यह है कि स्वयं आधे-अधूरे होने के बावजूद हम दूसरों के आधे-अधूरेपन को कतई बर्दाश्त नहीं कर पाते। इसका कथ्य इस बात को रेखांकित करता है कि पति-पत्नी के बीच किसी ऐसे सामंजस्य, संतुलन अथवा समीकरण की कोई संभावना नहीं हो सकती जिसमें ये परस्पर विरोधी जीवन एक-दूसरे को बिना फाड़ खाए साथ-साथ रह सकते हों - और इस विडम्बनापूर्ण स्थिति की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि ये अलग भी नहीं हो सकते।

प्रख्यात रंगकर्मी, निर्देशक और अभिनेता ओम शिवपुरी ने 'आधे-अधूरे' के कथ्य पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, "एक दूसरे स्तर पर यह नाट्य-कृति पारिवारिक विघटन की गाथा है। इस अभिशप्त कुटुंब का हर एक सदस्य एक दूसरे से कटा हुआ है। घर की त्रासदायक 'हवा' से वे सब अपने और एक-दूसरे के लिए जहरीले हो रहे हैं।' 'बड़ी लड़की' मनोज रूपी हमदर्द द्वार को पाते ही बाहर निकल भागी है। 'लड़का' पत्रिकाओं में अभिनेत्रियों की रंगीन तस्वीरें काटता हुआ उस मौके के इंतजार में है, जब वह भी यहाँ से निकल सकेगा। अपने पिता के लिए उसके मन में करुणा है। माँ के लिए आक्रोश। वह बड़ी बहन के प्रेम में विश्वास नहीं करता, उसे घर से निकलने का ज़रिया मानता है।" यही स्थिति परिवार के दूसरे सदस्यों की है। हर एक अपने अधूरेपन के साथ दूसरे के अधूरेपन पर प्रहार करता है। इस प्रकार परिवार का हर सदस्य अपने जीवन से असंतुष्ट है और किसी ऐसे भविष्य का इंतजार कर रहा है, जिसका दूर-दूर तक पता नहीं है। इस पहलू पर प्रकाश डालते हुए ओम शिवपुरी कहते हैं, "एक अन्य स्तर पर यह नाट्य रचना मानवीय संतोष के अधूरेपन का रेखांकन है जो जिंदगी से बहुत कुछ चाहते हैं, उनकी तृप्ति अधूरी ही रहती है।" मध्यवर्ग के इसी आधे-अधूरेपन का नाटक है, 'आधे-अधूरे'।

8.3 स्त्री-पुरुष : संबंध-विश्लेषण

मोहन राकेश का बुनियादी सरोकार आज के मध्यवर्गीय घुन लगे जीवन में स्त्री-पुरुष संबंधों की विडम्बना, विषमता और त्रासदी का विश्लेषण-विवेचन करना रहा है। कालिदास से लेकर नंद और महेंद्रनाथ तक की यात्रा लेखक के पूरे रचनात्मक व्यक्तित्व, उसकी छटपटाहट एवं मान्यताओं का महत्वपूर्ण रेखांकन है, जिसमें उसने नर-नारी संबंधों के जटिल इतिहास को फिर-फिर दोहराया है। 'आधे-अधूरे' में पहली बार उन्होंने अपने इस कथ्य को समकालीन परिवेश, चरित्र तथा जीवन को आज की जीवित भाषा में प्रभावशीलता के साथ प्रस्तुत करने की सार्थक कोशिश की है। यह नाटक बड़ी प्रखरता से स्त्री-पुरुष के लगाव और अलगाव, प्रेम और घृणा तथा संलग्नता की विवशता और उसे तार-तार करने की क्रूरता का प्रामाणिक दस्तावेज़ है। एक भिन्न धरातल पर यह नाटक आज के परिवार और समाज के विघटन की करुण कथा भी है और मानवीय संबंधों एवं मूल्यों के टूटने की गाथा भी। 'अर्थ' और 'काम' संबंधी विकृतियों के भँवर में फँसे जटिल मानसिकता वाले 'आधे-अधूरे' के ये कुंठित चरित्र एक परिवार के बहाने से हमारे समसामयिक मध्यवर्गीय समाज का ही चित्र प्रस्तुत करते हैं।

राकेश के नाटकों के कथ्य का दायरा बेशक बहुत छोटा है, परंतु उसके भीतर उनकी गहरी, सूक्ष्म और प्रखर दृष्टि बहुत दूर तक चली गई है। 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास मल्लिका (प्रेमिका) को छोड़कर प्रियंगुमंजरी (पत्नी) को अपनाता है परंतु कालांतर में उससे असंतुष्ट होकर मल्लिका के पास लौटता है और अंत में उसे भी अपने पूर्णतः अनुकूल न पाकर बाहर चला जाता है। 'लहरों के राजहंस' की सुंदरी नंद के लिए प्रेयसी भी है और पत्नी भी। परंतु सम्पूर्ण संतुष्टि और सामंजस्य यहाँ भी नहीं है। बुद्ध का आकर्षण नंद को खींचता है लेकिन उसे बाँध नहीं पाता। नंद सुंदरी के पास वापस लौटता है, लेकिन दोबारा जाने के लिए। पुरुष से हताश होकर 'आधे-अधूरे' में सम्पूर्णता और संतोष की इस तलाश का काम राकेश ने स्त्री को सौंपा है। लेकिन नतीजा यहाँ भी वही - बाहर और भीतर से जुड़ती-टूटती सावित्री अंत तक उतनी ही अधूरी और असंतुष्ट बनी रहती है। स्त्री और पुरुष दोनों घर नामक इस नरक को छोड़कर बाहर भाग जाना चाहते हैं। कोशिश भी करते हैं - लेकिन प्रत्यावर्तन के लिए विवश हैं। मुक्ति का कोई रास्ता नहीं है। यह अभिशप्त नियति राकेश के सभी पात्रों की है, जो बहुत दूर तक सच होने के कारण हमें बड़ी प्रभावी और अपनी-सी लगती है, लेकिन कहीं ले जाती नहीं - कोई रास्ता नहीं दिखाती। यह स्थिति 'आधे-अधूरे' की बहुत बड़ी शक्ति भी है और भारी सीमा भी। यह नियतिवाद एक निष्क्रिय हताशा को जन्म देता है जो दृढ़ इच्छाशक्ति, इंसानी कोशिश और संघर्ष के तमाम रास्तों को बंद कर देता है।

8.4 'आधे-अधूरे' में चरित्र-सृष्टि

'आधे-अधूरे' चरित्र प्रधान नाटक है। नाटक की प्रस्तावना में पुरुष कहता है, 'मैं इसमें हूँ और मेरे होने से ही बहुत कुछ इसमें निर्धारित या अनिर्धारित है।' यानी नाटककार ने हमेशा की तरह इस बार भी अपनी रचना को पुरुष-प्रधान बनाने का प्रयत्न किया है। परंतु सदैव की तरह इस बार भी उसे मुंह की खानी पड़ी है। कालिदास के मुकाबले मल्लिका और नंद के मुकाबले सुंदरी की तरह यहाँ भी पाँच-पाँच पुरुषों पर अकेली सावित्री भारी पड़ती है। 'आधे-अधूरे' की सावित्री एक ऐसी नौकरीपेशा स्त्री है जिसकी उम्र चालीस के आस-पास है लेकिन चेहरे पर यौवन की चमक और चाह अब भी बाकी है। वह जीवन में असफल हो चुके आत्मविश्वासहीन अपने पति महेंद्रनाथ से निराश होकर पिछले बीस-बाईस सालों से अपनी कल्पना के एक पूरे आदमी की तलाश में जुनेजा, मनोज, शिवजीत और सिहांनिया जैसे कई पुरुषों से टकरा-टकराकर घर वापस लौटती रही है। इसकी विडम्बना यह है कि तमाम महत्वाकांक्षाओं और कोशिशों के बावजूद यह उसी आधे-अधूरे पति महेंद्रनाथ के साथ ही जीने के लिए अभिशप्त है।

दोस्तों का चहेता और हंसमुख महेंद्रनाथ सावित्री से शादी के बाद कारोबार में लगातार असफल होकर आज पत्नी की कमाई पर ज़िंदा, लड़ने-कुढ़ने वाला और पत्नी के परिचितों या प्रेमियों के आने पर चुपचाप घर से चला जाने वाला एक पराजित, कटु और कभी-कभी खूंखार बन जाने वाला अजीब-सा कुंठित व्यक्ति बन गया है। सबसे अपमानित होकर वह बचपन के मित्र जुनेजा के यहाँ ऐसे जाता है, जैसे कभी घर नहीं लौटेगा। लेकिन अंत में 'ब्लडप्रैशर' की बुरी हालत में ही वह वापस आ जाता है। वह न सावित्री के साथ रह सकता है और न उससे अलग।

ऐसे परिवार में पले-बढ़े बच्चे स्वभावतः विकृतियों के शिकार होंगे ही। बड़ी लड़की बिन्नी अपनी माँ के प्रेमी मनोज से विवाह कर बैठी है और अब अत्यंत निराश, दुखी तथा टूटी हुई सी है। छोटी लड़की किन्नी में विद्रोह-भाव है। वह सिर-चढ़ी, मुंहफट, जिद्दी, आत्मकेंद्रित और यौन संबंधों में रुचि रखने वाली बिगड़ी हुई लड़की है। लड़के अशोक के चेहरे की कड़वाहट भरी हंसी से युवा पीढ़ी की पीड़ा तथा उसका आक्रोश, अस्वीकार और पलायन झलकता है। इक्कीस वर्षीय विरक्त और निकम्मा यह लड़का कोई काम-काज करने के बजाए अभिनेत्रियों की तस्वीरों और अश्लील पुस्तकों के सहारे जीवन काट रहा है। इन सभी चरित्रों में अंतर्द्वंद्व, टूटन, जलन, आक्रोश, तिक्तता और अजनबीपन भरा पड़ा है।

जुनेजा पैसे और दबदबे वाला काइयां लेकिन दोस्त से हमदर्दी रखनेवाला सुलझा हुआ आदमी है। शिवजीत के पास बड़ी डिग्री और दुनिया घूमने का अनुभव है। लेकिन वह दोगले किस्म का आदमी है। जगमोहन के पास ऊँचे संबंध, जबान की मिठास और खर्च की दरियादिली है। लेकिन वह एकनिष्ठ नहीं है। बड़े नाम वाला मनोज मां की जगह बेटी को ले भागता है। कामुक और फूहड़ बॉस सिंघानियाँ सावित्री के बजाए किन्नी में रुचि लेता है। ये सबके सब पात्र बेशक एकायामी हैं किंतु महेंद्रनाथ के अलग-अलग मुखौटे बनकर एक जटिल चरित्र की सृष्टि करते हैं। एक कलाकार से पाँच भूमिकाएँ करवाने के पीछे भी यही बुनियादी वजह है। 'आधे-अधूरे' के चरित्र रोचक और उनके आपसी संबंध जटिल हैं। विशिष्ट को सामान्य बनाने के लिए ही राकेश ने पहले चरित्रों के जातिवाचक और बाद में व्यक्तिवाचक नामों का प्रयोग किया है।

'आधे-अधूरे' के चरित्रों को स्वरूप और उनके चित्रण पर कई प्रकार के आरोप लगाए गए हैं, जो एक सीमा तक सही भी है। परंतु भारतीय मध्यवर्ग के व्यक्ति की प्रकृति और सही स्थिति को जाने बिना शायद हम इन पात्रों से न्याय नहीं कर सकते। इस संदर्भ में यहाँ इब्राहिम अल्काज़ी का यह कथन द्रष्टव्य है कि 'समाज-व्यवस्था आज तेज़ी से बदल रही है। न तो कोई टिकाऊ मूल्य रह गए हैं, न काई धार्मिक आस्था, न कोई राजनीतिक विश्वास, न कोई वैयक्तिक या सामाजिक विवेक। सभी कुछ काम चलाऊ है और हरेक समाधान तात्कालिक सुविधा पर टिका है। शाश्वत सत्य निकम्मे उपदेश बन गए हैं। ऐसी कोई चीज़ नहीं है जो लोगों को एक कर सके। न तो कोई एक लक्ष्य है, न कोई प्रतिबद्धता। समाज बिखर गया है, घर टूट चुका है और उसके सदस्य एक-दूसरे से कटकर अपरिचित की तरह भ्रांति और हताशा की अपनी-अपनी निजी आकारहीन दुनिया में रहते हैं। अपने नाटक 'हुई क्लो' में ज्याँ पाल सार्त्र ने कहा है, 'औरों की संगति नरक है।' भारत के मध्यवर्ग के बारे में यह बात निश्चय ही सच है। पर इससे भी बड़ी बात यह है कि व्यक्ति खुद अपने आप से कट गया है। वह स्वयं ही अपना नरक है। यही नहीं, बल्कि विडम्बना तो यह है कि इस प्रकार की स्थिति में उनकी कोई निश्चित और संगत पहचान नहीं बन पाती। ये मध्यवर्गीय चरित्र खण्डित और विभाजित व्यक्तित्व की धुंधली आकृतियाँ भर हैं, जो बदलती परिस्थितियों में अपने रूपाकार बदलते रहते हैं। यही कारण है कि हमें 'आधे-अधूरे' के घुन लगे इन मध्यवर्गीय चरित्रों के भीतर यौन कुंठाओं, अपूर्ण महत्वाकांक्षाओं, असफलताओं और अनजाने डरों से उद्भुत घृणा, तनाव, तिक्तता, चिड़चिड़ाहट, छटपटाहट, टूटन, आक्रोश ओर बिखराव का घना जंगल दिखाई पड़ता है।

8.5 'आधे-अधूरे' का परिवेश

'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' जैसे अर्द्ध ऐतिहासिक परिवेश के बाद मोहन राकेश ने पहली बार 'आधे-अधूरे' में समकालीन परिवेश, चरित्र और अनुभव को अपने नाटक का विषय बनाया। आधुनिक जीवन में से भी लेखक ने केवल मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन में स्त्री-पुरुष संबंधों को ही चुना। इसी इकाई में हम देख चुके हैं कि 'आधे-अधूरे' वास्तव में महानगरीय परिवेश में उच्च मध्यवर्ग से ढहकर निम्न मध्यवर्ग के स्तर पर आकर विखण्डित होते परिवार का चित्रण करता है।

यह सही है कि अर्थतंत्र पर स्त्री का एकाधिकार होने तथा पुरुष की बेकारी के कारण 'आधे-अधूरे' एक सामान्य नहीं विशिष्ट परिवार की कहानी बन गया है। परंतु इसे केवल एक औरत-मर्द की व्यक्तिगत त्रासदी कहकर कतई नहीं उड़ाया जा सकता, और न ही यह कहना सही है कि "यदि इस विशेष मध्यवर्गीय परिवार की केवल आर्थिक स्थितियाँ ही भिन्न होतीं तो नाटक में उस 'संत्रास' का, या कि जिसे नाटककार ने 'हवा' कहा है उसका, बहुत मामूली-सा ही असर रह जाता।" इस नाटक में सावित्री और महेंद्रनाथ के अलावा जुनेजा, शिवजीत, जगमोहन, मनोज और सिंघानिया का भी चित्रण या उल्लेख हुआ है। स्पष्टतः यह एकदम महेंद्रनाथ के ही प्रतिरूप नहीं हैं और न ही नाटककार ऐसा मानता है। इनकी सामाजिक, आर्थिक और मानसिक स्थिति एवं बनावट में काफी अंतर है। महेंद्रनाथ से लेकर जुनेजा तक - इस नाटक में निम्न, मध्य, उच्च-मध्यवर्ग के तीनों स्तर एक साथ मौजूद हैं। इसके अतिरिक्त अशोक और वर्णा के प्रेम-संबंधों का संकेत, किन्नी और सुरेखा की औरत-मर्द के रिश्तों की बातचीत तथा सुरेखा के माँ-बाप के विवाहेतर संबंधों का संदर्भ भी इस परिवेश को व्यापक एवं प्रामाणिक बनाते हैं। आर्थिक दृष्टि से बिन्नी और मनोज का वैवाहिक जीवन तो हर लिहाज़ से अच्छा है। फिर पति-पत्नी संबंधों को लेकर उनमें तनाव, घुटन, संघर्ष और बिखराव क्यों है? स्पष्ट है कि आज के मध्यवर्गीय जीवन-परिवेश में पति-पत्नी के अलगाव और परिवार के विघटन का एकमात्र कारण आर्थिक-संकट ही नहीं है। यह एक पेचीदा और बारीक समस्या है और इसके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अनेक कारण हैं। इसीलिए राकेश ने उसे अव्यक्त और अस्पष्ट 'हवा' कहा है और उसे सरलीकृत करने का प्रयत्न नहीं किया है। 'आधे-अधूरे' मध्यवर्गीय परिवार के परिवेश का उसकी यथासंभव सम्पूर्णता और जटिलता के साथ प्रस्तुतीकरण हुआ है।

8.6 'आधे-अधूरे' की भाषा और संवाद

मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाट्य-लेखन को बदले और निरंतर बदल रहे मानवीय संबंधों के संदर्भ में सही नाट्य-भाषा की तलाश कहा जा सकता है। इसीलिए सही नाटकीय शब्द और संवाद में उसकी उचित एवं सार्थक जगह तलाशने की जैसी छटापटाहट, बेचैनी और प्रयोगशीलता राकेश में देखने को मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

'आधे-अधूरे' में आज के भारतीय मध्यवर्गीय जीवन के सूक्ष्म-जटिल अनुभवों, अनुभूत-अर्द्ध अनुभूत संवेदनाओं, बहुआयामी वैविध्यपूर्ण स्थितियों और जूझते-टूटते आधे-अधूरे पात्रों की तनावपूर्ण विस्फोटक मनःस्थितियों को पूरी सच्चाई, ऊष्मा और विश्वसनीयता के साथ अपने समकालीन मुहावरे और बोलचाल की सजृनात्मक भाषा में पहली बार सफल नाटकीय अभिव्यक्ति मिली है। इसकी भाषा पारस्परिक संबंधों के तनाव, बिखराव, अलगाव, ऊब, कुढ़न, झल्लाहट, छटपटाहट, बौखलाहट, टूटन, आक्रोश, विद्रूप, विडम्बना, संघर्ष और मनहूसियत को 'जीने की भाषा' में प्रस्तुत करती है। यह नाट्य-भाषा शब्द, ध्वनि, मौन, मुद्रा, क्रिया, मंच-सज्जा, संगीत और छायालोक के संश्लेष से उपलब्ध की गई है।

प्रतीकात्मकता

'आधे-अधूरे' की भाषा की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि इसमें नाटककार प्रायः प्रचलित या परंपरित बड़े-बड़े प्रतीकों के प्रयोग की अपेक्षा रोज़मर्रा की जिंदगी में इस्तेमाल होने वाली आम और बहुत साधारण चीज़ों को ही गहरी और नई अर्थ-छाया देकर प्रतीक की गरिमा प्रदान कर देता है। दृश्य-बंध में प्रयुक्त सभी टूटी-अधटूटी और घिसी-पिटी चीज़ें इस घर की प्रत्यक्ष आर्थिक स्थिति के रेखांकन के साथ-साथ इस परिवार के सदस्यों को पारस्परिक विघटित संबंधों का परोक्ष संकेत भी देती है। नाटककार का यह कथन क्या घर की स्थूल चीज़ों के बजाए उसमें रहने वाले ज़िंदा लोगों के अंदरूनी हालात का ही सच्चा बयान नहीं है कि "एक चीज़ का दूसरी चीज़ से रिश्ता तात्कालिक सुविधा की मांग के कारण लगभग टूट चुका है। फिर भी लगता है कि वह सुविधा कइ तरह की असुविधाओं से समझौता करके की गई है - बल्कि कुछ असुविधाओं में ही सुविधा खोजने की कोशिश की गई है।" इसी प्रकार क्या रचनाकार यह कहकर कि "तीन दरवाज़े तीन तरफ़ से कमरे से झाँकते हैं।" 'कमरे' को इस घर के जीवन और 'दरवाज़ों' को उसमें ताँक-झाँक करने वाले सिंघानिया, जगमोहन तथा जुनेजा का रूप नहीं दे देता?

आंतरिक लयपूर्ण संवाद

शब्द अपने आप में महत्वपूर्ण नहीं होते, उनका अपने पड़ौसी शब्दों से संबंध और संदर्भ ही उन्हें अर्थपूण बनाता है। इसलिए नए-नए शब्दों या वाक्यांशों को गढ़ने की अपेक्षा उनके संदर्भों की लय और नाटक के चरित्रों की आंतरिकता से उद्‌भुत नयी-नयी लयों का अनुसंधान करना ही भाषा-सृजन और जीवंत संवाद-लेखन का एकमात्र सही रास्ता है। 'आधे-अधूरे' के संवादों की सबसे बड़ी विशेषता एक खरी, तनावपूर्ण, स्वतःस्फूर्त, बिम्बात्मक भाषा और आंतरिक लयपूर्ण संवादों की रचना है। इस नाटक के प्रत्येक पात्र के संवादों के शब्दों के अर्थ को जाने बिना ही सिर्फ उसकी ध्वनि और उच्चारण के अंदाज़ से ही बोलने वाले के चरित्र की मुख्य विशेषता को पहचाना जा सकता है। उसके संवादों के स्वरूप में पर्याप्त वैविध्य भी है आरंभ में काले सूट वाले आदमी के लम्बे एकालाप और अंत में जुनेजा-सावित्री के बड़े-बड़े संवादों को छोड़ दें तो शेष संपूर्ण नाटक के संवाद प्रायः छोटे-छोटे, विश्वसनीय, सघन, प्रखर तथा चरित्रों और स्थितियों, मनःस्थितियों को जीवंतता से उद्‌घाटित करने वाले हैं। संवादों में शब्दों का स्थान इतना निश्चित है कि मामूली सा हेर-फेर भी अर्थ का अनर्थ कर सकता है। सहज, आत्मीय, अंतरंग और रचनात्मक बोलचाल की भाषा में प्रभावशाली संवाद-सृजन राकेश की एक बड़ी उपलब्धि है।

शाब्दिक संवाद

'आधे-अधूरे' के अनेक संवाद एकदम साधारण, अभिधात्मक और सहज से प्रतीत होते हैं। परंतु उनके व्यंग्यात्मक अर्थ बड़े पैने और गहरे हैं। महेंद्रनाथ आर्थिक-सामाजिक कारणों से स्वयं को हीन समझता है और सावित्री के सामने दब्बू बना रहने के लिए विवश है। पत्नी के प्रश्नों और आरोपों का कोई संतोषजनक उत्तर उसके पास नहीं है। इसलिए वह बड़ी चतुराई से वार करता है। उसका प्रहार ऊपर से मासूम और बेचारा सा लगने के बावजूद भीतर से बेहद तीखा होता है। उदहारण के लिए पुरुष-एक का आँखें बचाते हुए स्त्री से यह कहना कि, "आ गईं दफ्तर से? लगता है आज बस जल्दी मिल गयी?" एक सामान्य प्रश्न या साधारण कथन-सा दिखाई देता है। जबकि वास्तव में वह उसके दफ्तरी जीवन पर व्यंग्य कर रहा है। मानों कह रहा हो, "तुम्हारा मन तो दफ्तर और अपने चाहने वालों के बीच ही लगता है। घर तो मज़बूरी में ही आना पड़ता है - सिर्फ कुढ़ने और लड़ने के लिए। देर से आने पर बस न मिलने की बात को भी महेंद्रनाथ जैसे सिर्फ एक बहाना या झूठ ही समझता है। सावित्री भी यह बात अच्छी तरह समझती है, इसीलिए वह जानबूझकर जवाब न देकर उस पर प्रश्न दाग देती है। सिंघानियाँ और जगमोहन को लेकर किए गए महेंद्रनाथ के व्यंग्य एवं कटाक्ष भी बिलियर्ड के खेल की याद दिलाते हैं, जिसमें प्रत्यक्षतः प्रहार एक बॉल पर किया जाता है और वास्तविक लक्ष्य कोई दूसरी बॉल ही होती है जो पॉकिट में जाती है। दबंग, आक्रामक, कटु और तेज़ तर्रार सावित्री जगमोहन के सामने कैसे बेबस और विनम्र हो जाती है, देखिए - "मैं वहाँ पहुँच

गई हूँ जहाँ पहुँचने से डरती रही हूँ, उम्र भर। ... तुम कितनी अच्छी तरह समझते हो मुझे .... कितनी अच्छी तरह! इस वक्त मेरी जो हालत है अंदर से....।"

'खुशी के संबंध में बिन्नी के जवाब पर महेंद्रनाथ की यह टिप्पणी भी दृष्टव्य है - "आदमी जो जवाब दे, वह उसके चेहरे से भी तो झलकना चाहिए।" मन, वचन और भावभंगिमा का यह असामंजस्य बिन्नी के अंतर्द्वंद्व, तनाव और दुःख के साथ-साथ आज के व्यक्ति की विभाजित मानसिकता एवं विषमता का संकेत भी दे देता है।

सावित्री द्वारा कई जगह किया गया 'ओह्, होह, होह्....।' जैसे निरर्थक शब्दों का प्रयोग और किन्नी द्वारा बिन्नी और माँ के शब्दों की भिन्न अर्थ एवं अन्दाज़ में पुनरावृत्ति (जो सामान्यतः दोष मानी जाती है) यहाँ उनके मन की खीझ, कड़ुवाहट, झुंझलाहट और दमित आक्रोश की सशक्त एवं सार्थक अभिव्यक्ति बन जाती है।

दृश्य बिम्बों की संवादात्मकता

नाटक में संवाद का वास्तविक अर्थ चरित्रों द्वारा बोले गए शब्दों या वाक्यों से ही नहीं होता। यहाँ अर्थगर्भी मौन भी संवाद होता है और चरित्रों द्वारा या उनकी मुख-मुद्राओं, भंगिमाओं और रंग-चर्चाओं से मंच पर बनने वाले दृश्य-बिम्ब भी उनके शाब्दिक संवादों के ही नाटकीय पर्याय होते हैं। उदहारण के लिए एक ही अभिनेता द्वारा पाँच भूमिकाएँ निभाने की रंग-युक्ति वास्तव में एक रंग-संवाद ही है जिसके ज़रिए नाटककार "बिल्कुल एक से हैं आप लोग! अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा? - चेहरा सबका एक ही!" जैसे शाब्दिक संवाद को दृश्य-संवाद के रूप में अनुदित करता है। इसी प्रकार, नाटक में सावित्री के प्रथम प्रवेश के साथ ही नाटककार स्त्री के व्यक्तित्व, संघर्ष और अंतर्द्वंद्व की झलक उसकी थकी-हारी इस भंगिमा द्वारा साफ तौर से दिखा देता है कि "स्त्री कई कुछ संभाले बाहर से आती है। कई कुछ में कुछ घर का है, कुछ दफ्तर का, कुछ अपना। चेहरे पर दिन-भर के काम की थकान है और इतनी चीज़ों के साथ चलकर आने की उलझन।" पारिवारिक, बाहरी (नौकरी) और व्यक्तिगत जीवन के असामंजस्यपूर्ण तकाज़ों में तालमेल न बैठा पाना ही वास्तव में सावित्री की त्रासदी का मूल कारण है, जिसका उल्लेख जुनेजा नाटक के अंत में यह कह करता है कि "तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है कितना कुछ एक साथ होकर, कितना कुछ एक-साथ पाकर और कितना कुछ एकसाथ ओढ़कर जीना।" प्रथम संकेत में स्त्री की यह स्थिति विवशताजन्य प्रतीत होकर उसके प्रति सहानुभूति पैदा करती है, जबकि जुनेजा के इस अंतिम विश्लेषण में यह अत्यधिक महत्वाकांक्षिणी और घोर स्वार्थी बताई जाती है तथा दर्शक के मन में वितृष्णा पैदा करती है। वास्तव में सावित्री का चरित्र इन दोनों सीमांतों को एकसाथ अपने में समाहित किए हुए है। इनमें से केवल किसी एक पक्ष का स्वीकार स्त्री की जटिल मानसिकता का सरलीकरण करके उसके चरित्र को एकांगी बना देता है। इस समग्रता और जटिलता के कारण ही अभिनय की दृष्टि से सावित्री का चरित्र कठिन और चुनौतीपूर्ण बनता है। पुरुष-पात्रों की तरह भले ही उसमें बाहरी विविधता न हो परंतु सूक्ष्म धरातल पर उसके चरित्र को परत-दर-परत देखना और दिखाना भी आसान काम नहीं है।

इसी प्रकार स्त्री का सर्वप्रथम संवाद ही हमें लापरवाह किन्नी की पढ़ाई के कारण घर पर पड़ते आर्थिक दबाव, तस्वीरों के साथ ज़िंदगी काटते बेरोज़गार और नाकारा अशोक के बोझ तथा निठल्ले और फालतू से महेंद्रनाथ का आरंभिक परिचय दे देता है। यहाँ राकेश ने बड़ी खूबी से पुरुष-एक के 'पाजामे' को स्वयं महेंद्रनाथ का ही प्रतीक बना दिया है जिसे सावित्री "मरे जानवर की तरह उठाकर देखती है और कोने में फेंकने को होकर फिर एक झटके से साथ उसे तहाने लगती है।" कभी महेंद्रनाथ से मुक्त होकर अलग से अपनी जिंदगी जीने और कभी इस प्रयत्न में असफल होकर इसी नामुराद मोहरे को ठोंक-पीट कर अपने लायक बनाने की कोशिश ही तो वास्तव में सावित्री की ऊबड़-खाबड़ जीवन-यात्रा का पूरा इतिहास है, जिसका संकेत राकेश ने आरंभ मे ही दे दिया है। इसी प्रकार, जगमोहन के प्रवेश के पूर्व सावित्री द्वारा बाहर जाने के लिए तैयार होते समय "गले की माला को उंगली में लपेटते हुए झटका लगने

से माला टूट जाती है। परेशान होकर वह माला को उतार देती है और जाकर कबर्ड से दूसरी माला निकाल लेती है।' सावित्री की मनःस्थिति और परिस्थिति को ध्यान में रखकर देखें तो 'माला' यहाँ उसकी वर्तमान स्थिति की प्रतीक बन जाती है। इसके दाने या मोती घर के अलग-अलग सदस्य हैं जिन्हें अपनी व्यवस्था के धागे से स्त्री ने एकसाथ बांध रखा है। परंतु अशोक के सीधे प्रहार से आहत सावित्री सब की परवाह छोड़कर अब से केवल अपनी ज़िंदगी देखने का निर्णय और परिणामस्वरूप यह घर छोड़कर जगमोहन के साथ अपनी नई दुनिया बनाने का संकल्प करती है। इसी बात को रचनाकार ने यहाँ पुरानी माला के टूटने और नई माला निकालने/पहनने के संकेत द्वारा नाटकीय अभिव्यक्ति दी है। स्त्री के संवादों पर ध्यान दें तो यह 'माला' यहाँ एक स्थान और एक परिवार में एक ही तरह से गुज़ारे गए या जा रहे दिनों-वर्षों की परंपरा भी बन जाती है। झटके से तोड़कर सावित्री जीवन के उस ढर्रे को छोड़कर एक नये ढंग से ज़िंदगी जीने का प्रयत्न कर रही है। यहीं सावित्री द्वारा टटोलने और ढूँढ़ने के बावजूद एक चप्पल का दूसरा पैर न मिलने पर सब जूतों-चप्पलों को ठोकरें लगाकर पीछे हटा देना भी पारिवारिक सामंजस्य (या महेंद्रनाथ के अपेक्षित रूप) और उपलब्धि की भरसक तलाश की असफलता पर पूरे घर को ठुकरा देने की झुँझालाहट-भरी कोशिश का संकेत देता है। सावित्री को अपनी पसंद और अपने पाँव के सही नाप की दूसरी चप्पल का न मिलना भी क्या उसके जीवन की विडम्बना की ओर सीधा इशारा नहीं करता? इसी प्रकार अनेक स्थानों पर पात्रों का दराज़/कबर्ड को बार-बार खोलना बंद करना तथा महेंद्रनाथ का कुर्सी को झुलाना चरित्रों के मन की उलझन और उनके असमंजस को द्योतित करता है। इसी प्रकार चीज़ का न खुलने वाला डिब्बा भी इस घुटन-भरे अभिशप्त परिवार की निजातरहित अंधी परिस्थितियों का प्रतीक बन गया है जिसे भरी हुई नोक वाले किसी भोंथरे टिन-कटर रूपी समाधान या समझौते से नहीं खोला जा सकता। इस स्थिति से निपटने के लिए किसी तीखी नोक वाले तेज़ औज़ार की ज़रूरत है। इसी प्रकार राकेश ने इस नाटक में 'धूल', 'हवा', 'फ़ाइल', 'रबड़-स्टैम्प', 'पर्स' जैसे अनेक सामान्य शब्दों और मामूली-सी चीज़ों को भी अतिरिक्त एवं नया अर्थ देकर रचनात्मक रूप में प्रयोग किया है।

8.7 सारांश

मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' से संबंधित इस इकाई में आपने नाटक के विभिन्न पक्षों का विवेचन पढ़ा है। इससे पूर्व की इकाई में आपने मोहन राकेश के नाटक संबंधी विचारों और उनके नाट्य लेखन के बारे में अध्ययन किया था।

इस इकाई के अंतर्गत हमने भारतीय मध्यवर्ग के परिप्रेक्ष्य में यह जाना कि किस प्रकार 'आधे-अधूरे' समकालीन भारतवर्ष के महानगरीय मध्यवर्गीय पारिवारिक संबंधों के विघटन के ज़रिए घर की तलाश करता है। इसका कथ्य कुछ खास हालात में कुछ खास लोगों की अजीबोगरीब सी ज़िंदगी से जुड़ा होने के बावजूद हमारे समकालीन समाज के एक बड़े वर्ग के आम लोगों की स्वाभाविक ज़िंदगी का प्रामाणिक दस्तावेज़ बन जाता है। राकेश की दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत हो सकता है कि किसी भी परिस्थिति में स्त्री-पुरुष संबंधों में कभी कोई सामंजस्य और स्थायी तालमेल हो ही नहीं सकता। इनके रिश्ते एक ऐसी अंतर्विरोधी स्थिति को पैदा करते हैं जिसमें न वह शांतिपूर्वक साथ रह सकते हैं और न ही अलग हो सकते हैं। वह इस नारकीय जीवन को जीने के लिए अभिशप्त हैं।

राकेश ने समाज के इन घुन लगे, घुटते, जूझते, टूटते, बिखरते चरित्रों का चित्रण इस खूबी से किया है कि ये वर्ग-पात्र होने के साथ-साथ अपनी व्यक्तिगत और निजी पहचान भी बनाए रखते हैं। चारों पुरुष पात्रों के अलग-अलग चरित्र सरलीकृत और एकायामी-से प्रतीत होते हैं किंतु वे मिलकर जिस एक व्यक्ति का चरित्र प्रस्तुत करते हैं, वह अपने आप में काफी जटिल और बहुआयामी है। सावित्री के चरित्र में भी आज की पढ़ी-लिखी, स्वतंत्र और आत्म-निर्भर स्त्री की कई रंगते मिलीजुली नज़र आती है। बिन्नी में घुटन, झुंझालाहट और असमंजस है तो

किन्नी में उद्दण्ड विद्रोह। अशोक नई पीढ़ी के दिशाभ्रम, आक्रोश और व्यंग्य-विद्रूप को प्रस्तुत करता है।

इसका परिवेश समकालीन शहरी मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ से जुड़ा है। अपने पूर्व नाटकों में संस्कृत की तत्सम शब्दावली वाली अलंकृत और साहित्यिक भाषा के प्रयोग के बाद राकेश ने 'आधे-अधूरे' में आज के मुहावरे और बोलचाल की भाषा को 'जीने की भाषा' बनाकर ऐसे रचनात्मक, अंतरंग और स्वतःस्फूर्त रूप में प्रस्तुत किया है कि यह आधुनिक हिंदी नाटक की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि बन गई है। प्रभावशाली शाब्दिक संवादों के अलावा राकेश ने मुखमुद्रा और रंग-चर्याओं को भी नाटकीय संवाद का स्तर प्रदान किया है। चरित्रों की आंतरिकता से जुड़े विशिष्ट लयपूर्ण संवाद राकेश के इस नाटक की अत्यंत उल्लेखनीय विशेषता हैं। कुल मिलाकर, कथ्य, चरित्रांकन और भाषा-संवाद इत्यादि की दृष्टि से 'आधे-अधूरे' आधुनिक हिंदी और भारतीय रंगकर्म की एक अत्यंत महत्वपूर्ण नाट्य-रचना है।

अभ्यास

1. मध्यवर्गीय जीवन के परिप्रेक्ष्य में 'आधे-अधूरे' का विवेचन कीजिए।
2. मध्यवर्ग के संबंध में क्या आप मोहन राकेश के दृष्टिकोण से सहमत हैं? 'आधे-अधूरे' की समीक्षा करते हुए अपना मत प्रस्तुत कीजिए।
3. 'आधे-अधूरे' की भाषा और संवाद संबंधी विशेषताओं का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

इकाई 9 'आधे-अधूरे' का नाट्य शिल्प

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 नाट्य-संरचना
9.3 नाट्य-भाषा और संप्रेषण
9.4 वेशभूषा
9.5 प्रकाश-योजना और ध्वनि-संकेत (संगीत)
9.6 रंगमंचीयता की समस्याएँ और चुनौतियाँ
9.7 'आधे-अधूरे' की प्रमुख प्रस्तुतियाँ
9.8 सारांश

9.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' से संबंधित यह नौवीं इकाई है और 'आधे-अधूरे' से संबंधित तीसरी इकाई है। इस इकाई में हम मोहन राकेश के बहुचर्चित नाटक 'आधे-अधूरे' के नाट्य-शिल्प का अध्ययन करेंगे।

नाट्य-शिल्प से तात्पर्य है नाटक की रचना और प्रस्तुति के उन साधनों और उपकरणों को समझना जिनकी मदद से नाटक लिखा जाता है और खेला जाता है। 'आधे-अधूरे' पर विचार करते हुए हमें उस नाटक के संरचना और शिल्प पक्ष पर विचार करना आवश्यक है। इस इकाई में आप इन दोनों पक्षों के बारे में जानेंगे। नाटक में भाषा का महत्वपूर्ण स्थान होता है। पिछली इकाई में भाषा के बारे में उल्लेख किया गया था। इस इकाई में संप्रेषण की दृष्टि नाटक की भाषा और संवाद का और गहराई से अध्ययन करेंगे।

नाटक की सफलता उसके मंच पर प्रस्तुति से गहरे रूप से जुड़ी है। 'आधे-अधूरे' को लगातार अत्यंत सफलतापूर्वक खेला जाता रहा है। रंगमंच की प्रस्तुति में आने वाली समस्याओं और चुनौतियों को समझकर आप नाटक की शक्ति का मूल्यांकन कर सकते हैं। इकाई में इस दृष्टि से भी नाटक पर विचार किया गया है।

रंगमंच पर प्रस्तुति के ही अंग हैं पात्रों की वेशभूषा, रंगसज्जा, प्रकाश व्यवस्था, ध्वनि संकेत, पार्श्व संगीत आदि। 'आधे-अधूरे' की मंचीय प्रस्तुति में इनके योगदान पर भी इकाई में पढ़ेंगे।

इकाई के अंत में आप 'आधे-अधूरे' की प्रमुख प्रस्तुतियों के इतिहास और विश्लेषण की संक्षिप्त जानकारी भी प्राप्त करेंगे।

9.1 प्रस्तावना

'नाटक और अन् गद्य विधाएँ' नामक एम.ए. हिंदी के इस चौथे पाठ्यक्रम के दूसरे खंड की तीसरी इकाई का संबंध भी मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' से है। इससे पहले आप दो इकाइयों में 'आधे-अधूरे' के बारे में कई महत्वपूर्ण पक्षों का अध्ययन कर चुके हैं। इकाई-7 में आपने मोहन राकेश द्वारा रचित नाटकों के सदंर्भ मे नाट्य संबंधी उनके चिंतन और विभिन्न नाटकों की विशिष्टताओं का अध्ययन किया गया है।

आठवीं इकाई में आप समकालीन भारतीय मध्यवर्गीय जीवन के परिप्रेक्ष्य में 'आधे-अधूरे' के कथ्य, चरित्रांकन, संबंध-विश्लेषण, परिवेश और भाषा-संवाद का अध्ययन कर चुके हैं। इसी क्रम में यहाँ हम 'नाट्य-शिल्प' के सामान्य अर्थ और 'आधे-अधूरे' की नाट्य-संरचना की नवीनता एवं मौलिकता पर विचार करेंगे। इसके अतिरिक्त, इस इकाई के अंतर्गत 'आधे-अधूरे' की नाट्य-भाषा और सम्प्रेषण की प्रमुख विशेषताओं के साथ-साथ इसकी रंगमंचीयता एवं प्रमुख प्रस्तुतियों के विश्लेषण का प्रयत्न भी किया जाएगा। स्पष्ट है कि इस इकाई के अध्ययन के बाद आप इस नाटक के नाट्य-शिल्प/ रंग-शिल्प की बुनियादी विशेषताओं के साथ-साथ यह भी जान पायेंगे कि यह नाटक अपने समकालीन नाटकों से किस रूप में और कितना भिन्न तथा अनूठा है।

नाटक में अपने कथ्य को अभिव्यक्त करने के लिए नाटककार जिन-जिन शैलियों, युक्तियों, पद्धतियों, साधनों और उपकरणों का प्रयोग करता है - उन सबको संयुक्त रूप से नाट्य-शिल्प या रंग-शिल्प कहा जाता है। इसमें संरचना, भाषा, दृश्य-बंध, प्रकाश, ध्वनि, वस्त्राभूषण और वेश-विन्यास इत्यादि वह सभी कुछ शामिल है जिसके माध्यम से रचनाकार (नाटककार, अभिनेता, निर्देशक, पार्श्वकर्मी इत्यादि) अपनी बात अपने पाठकों/ दर्शकों तक पहुँचाता है। स्पष्ट है कि यह एक विस्तृत और जटिल प्रक्रिया है। इसीलिए इसके अध्ययन-विवेचन के लिए हमें विश्लेषण का सहारा लेना पड़ता है और एक समग्र एवं सम्पूर्ण इकाई को खंड-खंड करके देखना पड़ता है। सबसे पहले हम यहाँ नाटक 'आधे-अधूरे' की संरचना पर विचार करेंगे।

9.2 नाट्य-संरचना

संरचना का अर्थ वह ढाँचा या बुनावट है जिसमें नाटककार अपनी विषय-वस्तु को बांधता या कि बुनता है। भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में इसके निश्चित नियम और सिद्धांत रहे हैं। नाटक के अंक कितने हों, उसे दृश्यों में विभाजित किया जाए या न किया जाए? यदि किया जाए तो दृश्य कैसे और कितने हों? नाटक के आरंभ, मध्य और अंत कैसे हों? कार्य-व्यापार को कैसे संयोजित किया जाए कि संपूर्ण नाटक के दौरान पाठक/दर्शक का कुतूहल बराबर बना रहे? सभी तत्वों और अवयवों का यह अनुपात और औचित्य कैसे बनाए रखा जाए जिससे नाटक का उद्देश्य और प्रभाव खण्डित न हो? इसमें वर्जित दृश्य रखे जाएं या न रखे जाएँ? संकलन-त्रय का कितना और कैसा महत्व स्वीकार किया जाए, किया भी जाए या नहीं? ये कुछ ऐसे सवाल हैं जिन्हें लेकर प्रत्येक गंभीर आधुनिक नाटककार परेशान रहा है और विभिन्न प्रयोग करके अपनी रचनाओं के माध्यम से इनके संगत उत्तर तलाशने की कोशिश करता रहा है। मोहन राकेश भी ऐसे ही एक प्रयोगधर्मी नाटककार हैं जो बार-बार इस प्रश्न से जूझते नज़र आते हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' में तीन अंकों वाले समस्या नाटकों के संरचना-शिल्प के साथ प्रयोग करने के बाद 'आधे-अधूरे' में वह नए सिरे से इस समस्या से जूझते दिखाई देते हैं। पूरे नाटक को राकेश ने अंकों या दृश्यों में विभाजित करने के बजाए 'अंतराल-विकल्प' देकर दो भागों में बाँट दिया है। सम्पूर्ण कार्य-व्यापार चूंकि लगातार चलता है, इसलिए निर्देशक चाहे तो इसे बिना अंतराल के निरंतर भी प्रस्तुत किया जा सकता है। परंतु अभिनेताओं-दर्शकों को थोडी राहत देने के उद्देश्य से दूसरे दिन से पहले और पहले दिन के बाद का यह 'अंतराल' काफी उपयोगी है।

'आधे-अधूरे' का कथानक महान् और विराट घटनाओं से रहित है और महेंद्रनाथ तथा सावित्री के ढहते हुए मध्यवित्तीय परिवार को पात्रों की संवेदनाओं की आपसी टकराहट और उनके आंतरिक विस्फोट से ही नाटक आगे बढ़ता है। आरंभ से चरमोत्कर्ष तक लगातार विकसित होने वाले नाटकीय कार्य व्यापार और संघर्ष का यहाँ अभाव है। नाटकीय संरचना की परंपरागत कार्यावस्थाएँ यहाँ नहीं हैं। नाटक की गति सीधी न होकर वर्तुलाकार हैं। काले सूट वाला आदमी सिगार से राख झाड़ते हुए अंतर्मुख भाव से अंत मे यह कहता भले ही न हो कि, 'फिर एक बार, फिर से वही शुरुआत ....।' लेकिन ध्वनित यही है। स्थिति ठीक वही है, जो आरंभ में

थी। कथ्य और शिल्प की यह अन्विति अभूतपूर्व और अद्‌भुत है। सारे उतार-चढ़ाव और लड़ाई-झगड़े के बावजूद न तो स्थितियों में कोई अंतर आता है और न चरित्रों में। अभिशप्त जीवन की इसी नियति की त्रासदी को उद्‌घाटित करना राकेश का उद्देश्य है।

सावित्री और महेंद्रनाथ के असंतोष भरे बाईस वर्षों के दाम्पत्य जीवन के बेहद तनाव भरे या लगभग चरमोत्कर्ष के बिंदु से 'आधे-अधूरे' आरंभ होता है। रोचकता को बनाए रखने के लिए राकेश ने पिछले वर्षों की घटनाओं और महत्वपूर्ण प्रसंगों के उद्‌घाटन को एक ही स्थान पर एक साथ रखने के बजाए बड़ी कुशलता से आवश्यकतानुसार पूरे नाटक में फैला दिया है। परंतु अंतिम अंश को दृश्यात्मक कार्य-व्यापार की बजाए लेखक ने जुनेजा-सावित्री-संवाद के माध्यम से सूच्य ही रखा है। इससे महेंद्रनाथ का पिटा हुआ दब्बू रूप ही दर्शकों के सामने आता है, उसका खूंखार चेहरा दिखाई नहीं देता। संभव है अपनी रचनाओं में स्वयं को जस्टीफाई करने वाले रचनाकार मोहन राकेश ने स्त्री के मुकाबले पुरुष को बेचारा और सबकी सहानुभूति का पात्र बनाने के लिए जानबूझकर ही ऐसा किया हो। परंतु यह भी सच है कि संरचना की इस खामी को लेखक ने अपनी और कई खूबियों से पूरी तरह ढक दिया है।

'आधे-अधूरे' मूलतः पश्चिमी यथार्थवादी शैली का नाटक है, परंतु इसके आरंभ में पारंपरिक भारतीय शैली की 'प्रस्तावना' रखकर राकेश ने एक नया प्रयोग किया है। कुछ विद्वानों के मत से यह एक निरर्थक बौद्धिक युक्ति है। जो कुछ नाटककार नाटक में नहीं कह सका, उसे उसने यहाँ आरोपित करने की कोशिश की है। यह नाटक कुछ खास चरित्रों के विशिष्ट परिवार का नाटक है जिसे रचनाकार ने 'प्रस्तावना' के माध्यम से आम लोगों के सामान्य परिवार का नाटक बनाने का प्रयास किया है। परंतु सच तो यह है कि यह एक रोचक नाट्य-युक्ति है जिसके बिना नाटक का कथ्य पूरा नहीं होता और वह स्वयं ही आधा अधूरा रह जाता है।

मंच पर पात्रों के प्रवेश-प्रस्थान का विशेष महत्व होता है। उनका आना-जाना आकस्मिक और अति नाटकीय न होकर स्वाभाविक एवं सप्रयोजन होना चाहिए। 'आधे-अधूरे के प्रवेश-प्रस्थान अत्यंत कलात्मक एवं नाटकीय ढंग से संयोजित किए गए हैं। नाटककार की योजनानुसार एक समय में प्रायः दो पात्र ही एक साथ मंच पर रहते हैं। तीसरा पात्र यदि होता भी है तो बहुत थोड़ी देर के लिए और वह भी उस प्रसंग की गौण भूमिका में। इस युक्ति से चरित्रांकन में एक प्रकार की प्रखरता और स्पष्टता आई है।

नये भारतीय नाटककारों ने समय, स्थान और कार्य की अन्विति के पश्चिमी सिद्धांत को प्रायः छोड़ दिया है। परंतु राकेश के तीनों नाटकों की संरचना का यह एक प्रमुख अंग रहा है। संकलन-त्रय 'आधे-अधूरे' की एक ऐसी विशेषता है, जो कई समस्याओं के बावजूद इसके मंचन को सहज बनाने में उल्लेखनीय भूमिका निभाती है। समय, स्थान और कार्य व्यापार की यह एकता नाटक के कथ्य को विश्वसनीय और प्रभाव को एकाग्र बनाती है।

9.3 नाट्य-भाषा और संप्रेषण

प्रत्येक रचनाकार अपने कथ्य को पाठक/दर्शक तक सम्प्रेषित करने के लिए एक सीमा के बाद अपनी मौलिक भाषा की खोज करने के लिए विवश होता है। मोहन राकेश एक रंग-चेता नाटककार थे। रंगमंच के साथ उनका गहरा, प्रत्यक्ष, अंतरंग, सहज और जीवन्त संबंध था। 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' जैसे अतीतोन्मुखी संदर्भ-परिवेश के सफल नाटकों के बाद आज के जीवन के सूक्ष्म-जटिल अनुभवों, अनुभूत-अर्द्धअनुभूत संवेदनाओं, उलझी हुई स्थितियों और अपने आपसे या आपस में ही जूझते-टूटते, आधे-अधूरे चरित्रों की तनावपूर्ण विस्फोटक मनःस्थितियों का पूरी सच्चाई, ऊष्मा और विश्वसनीयता के साथ समकालीन मुहावरे और बोलचाल की सृजनात्मक भाषा में प्रस्तुत करना आधुनिक हिंदी नाटक की एक बहुत बड़ी और ज़रूरी चुनौती थी, जिसे राकेश ने 'आधे-अधूरे' में स्वीकार किया।

मध्यवर्गीय अनाटकीय और ऊब से भरे एकरस जीवन की नाटकीयता को पकड़ने और उसे जीने की हरकत भरी नाट्य-भाषा में पेश करने का पूर्वाभ्यास वह 'शायद' और 'हः' नामक अपने बीज-नाटकों में पहले ही कर चुके थे। यही कारण है कि 'आधे-अधूरे' की नाट्य-भाषा सार्थक शब्द के साथ-साथ प्रतीकों, बिम्बों, ध्वनि, मौन, मुद्रा, क्रिया, मंच-सज्जा, संगीत और छायालोक के नाटकीय संश्लेष से उपलब्ध की गई है। रंग-भाषा के इन्हीं सब उपकरणों एवं माध्यमों के संयोग से राकेश ने जीने की एक ऐसी यथासंभव सम्पूर्ण रचनात्मक भाषा उपलब्ध की थी जो उनके नाटक के पेचीदा मंतव्य को अधिक से अधिक समग्र रूप में अभिव्यंजन करने में समर्थ हो सकी।

शब्द-भंडार

शब्द-समूह के विश्लेषण की दृष्टि से 'आधे-अधूरे' में संस्कृत के तत्सम और अंग्रेज़ी शब्दों की संख्या बराबर है (लगभग 80-80 शब्द), जबकि उर्दू-फ़ारसी के शब्द इनसे लगभग तीन गुना अधिक हैं। संस्कृत के अधिकांश शब्द सिंघानिया द्वारा हास्य-व्यंग्य उत्पन्न करने के लिए बुलवाए गए हैं। नाटक के सभी पात्र अच्छे पढ़े-लिखे हैं, इसलिए बातचीत में अंग्रेज़ी के सामान्य शब्दों का आ जाना भी अस्वाभाविक नहीं है। उर्दू-फारसी के शब्दों के आधिक्य का एक कारण तो यह है कि हमारी बोल-चाल में ही ये शब्द अपेक्षाकृत अधिक हैं और दूसरे, 'आधे-अधूरे' का यह परिवार एक पंजाबी परिवार है, जहाँ सामान्यतः उर्दू का ही अधिक व्यवहार होता है। स्वयं राकेश के अनुसार,उनके इस दौर के नाटकों की भाषा में, 'अधिकतर उर्दू का प्रयोग है। फिर उसमें मेरी लोकभाषा, कुछ स्थानीय मुहावरे और कुछ अंग्रेज़ी भाषा के शब्द और अभिव्यक्तियाँ भी शामिल हैं।''आधे-अधूरे' में 26 मुहावरों का स्पष्ट प्रयोग हुआ है और लगभग 8 अभिव्यक्तियाँ ऐसी हैं जो मुहावरे का भ्रम पैदा करती हैं।

प्रतिध्वनि, शब्द और तुतली-भाषा

नाटक में अपनी बात को असरदार ढंग से कहने के लिए नाटककार व्याकरणसम्मत शब्दों के संयोजन और भाषा के सुसंस्कृत सुसंगत रूप के बजाए भिन्न प्रकार से भी प्रयोग करता है। इसमें लिखने के स्थान पर बोलने के अंदाज़ का प्रभाव अधिक रहता है। 'आधे-अधूरे' में राकेश ने आधे-अधूरे, टूटे-फूटे वाक्यों के अलावा प्रतिध्वनि और ध्वन्यात्मक शब्दों का भी अत्यंत सार्थक उपयोग किया है। उदहारण के लिए हड़ताल-अड़ताल, गाल-वाल, बच्चा-कच्चा, छोटी-मोटी, करना-धरना इत्यादि जैसे अनेक प्रतिध्वनि शब्दों का उल्लेख किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त ध्वन्यात्मक शब्दों और निरर्थक ध्वनियों जैसे - किट्पिट, ओह ओह ओह, हुँ-हुँ-हुँ-हुँ-हुँ-हुँ, चख-चख, ओफ़फोह ... ओफ़फोह, थूः-थूः इत्यादि का सार्थक उपयोग राकेश ने किया है।

इसी प्रकार, **'तुछ नई तैना है तुजे। बैथ दा तुलछी पल औल तछवीलें तात। तितनी तछवीलें** तातीं ऐं **अब तत लाजे मुन्ने नें? अगर कुछ नहीं कहना था तुझे तो पहले ही क्यों नहीं अपनी** ज़बान...?' स्त्री के इस संवाद में तुतली भाषा का प्रयोग तथा अंत में वाक्य का अधूरापन उत्तरदायित्वहीन, निठल्ले और ढीठ जवान बेटे के दुर्व्यवहार से उत्पन्न माँ के आक्रोश, घृणा, उत्तेजना और कुछ न कर पाने की विवशता को प्रभावपूर्ण ढंग से सम्प्रेषित करता है। लगभग यही स्थिति बड़ी लड़की और छोटी लड़की के संवादों में वहाँ दिखाई देती है जहाँ अपने क्रोध पर काबू पाने में असमर्थ छोटी लड़की रोते-रोते उपेक्षा से बड़ी लड़की के संवादों को व्यंग्य से दोहराती है।

शब्दों के स्थानापन्न रूप में क्रियाएँ

सामान्यतः नाटक में क्रियाएँ शब्दों के पूरक रूप में इस्तेमाल की जाती है। शब्दों में कही गई बात को और अधिक शक्तिशाली या प्रभावपूर्ण बनाने के लिए भावों (एक्स्प्रैशंस) एवं क्रियाओं (एक्शंस) को उनके साथ-साथ प्रयोग किया जाता है। परंतु राकेश ने 'आधे-अधूरे' में क्रियाओं और भाव-भंगिमाओं को शब्दों के स्थानापन्न रूप में स्वतंत्र अभिव्यक्ति माध्यम की तरह भी सफलता से प्रयोग किया है। उदहारण के लिए अखबार की रस्सी बनाना (नपुंसक आक्रोश),

पतलून में से कीड़ा पकड़ना और उछलना (घृणा, कड़वाहट और घुटन से उत्पन्न विद्रूप एवं मज़ाक), पुरानी फाइलों को झाड़ना और पीटना (खीज और मूक विद्रोह तथा अव्यक्त क्रोध की प्रतिक्रिया), ताश से पेशंस का खेल खेलना (अकेला और निठल्लापन), सिगरेट के छल्ले बनाना (बेफिक्री, दिखावा और सीधे प्रश्नों से बचाव), कैंची से कागज़ों को काटना (संबंधों का विघटन) इत्यादि कुछ ऐसी ही क्रियाएँ हैं।

ध्वनियाँ, रंग-चर्याएँ और मौन

विविध प्रकार की ध्वनियों और रंग-चर्याओं के अर्थपूर्ण एवं नाटकीय इस्तेमाल में भी रचनाकार ने बड़ी सूझ-बूझ और सजगता का परिचय दिया है। उदहारण के लिए अशोक की कैंची की ध्वनि, टिन-कटर, कप-प्लेटों की या महेंद्र के फइल झटकने की आवाज़ें आदि एक ऐसा वातावरण निर्मित करती है जिसमें चरित्रों की आंतरिकता मुँह से बोलने की अपेक्षा अधिक मुखर हो उठती है। इन आवाज़ों और कुछ दृश्य-बिम्बों के अतिरिक्त मोहन राक़ेश ने, अपने मंच-निर्देश के अनुसार, कुछ अन्य रोज़मर्रा के हाव-भावों का प्रयोग प्रतीकात्मक रूप से किया है - जैसे सावित्री टेबल कवर को खींच कर उसमें अपना मुँह छिपा लेती है या परेशान-सी अपने पर्स को टटोलती है। इन भावों में चरित्र की आंतरिक वेदना एवं खोयापन अपनी पूरी शक्ति एवं समग्रता से प्रकट होते हैं।

कई बार नाटककार 'मौन' का ऐसा सार्थक और असरदार प्रयोग अपने नाटक में करता है कि वह कई-कई शब्दों और वाक्यों पर भारी पड़ता है। 'आधे-अधूरे' में यूँ तो ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ राकेश में मौन का अत्यंत नाटकीय एवं अर्थगर्भी प्रयोग किया गया है। परंतु पुरुष-तीन के साथ स्त्री के प्रस्थान के बाद छोटी लड़की के मौन, सिसकते स्वर और मंच के खालीपन का जैसा प्रभावशाली प्रयोग किया है, वह अपने आप में अनूठा है। इसी प्रकार - 'स्त्री : (उसे चपत जड़ती) तू कह तो फिर से एक बार वही बात।' के बाद 'पल भर की खामोशी जिसमें सबकी नज़रें स्थिर हो रहती है - छोटी लड़की की स्त्री पर और शेष सबकी छोटी लड़की पर।' वाली स्थिति में मौन या खामोशी का बड़ा विस्फोटक इस्तेमाल किया गया है।

दृश्य-बंध और मंच-उपकरण

सार्थक और महत्वपूर्ण नाटकों में दृश्य-बंध और मंच-उपकरण सिर्फ सजावटी सामान नहीं होता। वह चरित्रों को अपेक्षित देश-काल और विश्वसनीय परिवेश देने के साथ-साथ नाटक के मूल मंतव्य और चरित्रों की प्रमुख विशेषताओं को भी प्रकट करता है। 'आधे-अधूरे' के दृश्य-बंध में उपस्थित सोफा सेट, डायनिंग टेबल, ड्रेसिंग टेबल, तिपाई, मोढ़े, फटी-पुरानी किताबों का शैल्फ, पढ़ने की मेज़-कुरसी और फटे, घिसे या सिले हुए गद्दे, परदे, मेज़पोश और पलंगपोश एक मध्यवित्तीय स्तर से ढहकर निम्न मध्यवित्तीय स्तर पर आए घर की मुखर कहानी तो कहते ही हैं, उस घर के लोगों की विघटन की दर्दनाक दास्तान भी सुनाते हैं। कटी-अधकटी तस्वीरों, कुरसी की पीठ पर झूलते पाजामे, खुले हुए बैग से आधी निकली कापियों-किताबों, फटे मोज़ों और चटखे-टूटे टी-सेट का भी नाटककार ने नाटकीय तथा अर्थपूर्ण प्रयोग किया है। इसी प्रकार, 'तीन दरवाज़े तीन तरफ से कमरे में झाँकते हैं।' कहकर नाटककार 'कमरे' को इस घर के जीवन और दरवाज़ों को उसमें ताक-झांक करने वाल सिंघानियाँ, जगमोहन और जुनेजा का प्रतिरूप बना देता है। ये सब चीज़ें उसकी नाट्य-भाषा के प्रभावी अंग बन गई है।

9.4 वेशभूषा

वेशभूषा नाटक के रंग-शिल्प का एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व है। सामान्यतः माना जाता है कि जैसे नाटक का एक-एक शब्द नाटक के पूरे कथ्य के लिए अर्थपूर्ण होना चाहिए, वैसे ही वेशभूषा के हर हिस्से को भी नाटक के अर्थ और पात्रों के चरित्र को उभारने में मददगार होना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब वेशभूषा पात्र के स्वभाव, वर्ग, आयु, समाज में स्थान, उसकी व्यक्तिगत पसंद, उसकी मनोदशा और उसके चरित्र को ध्यान में रखकर परिकल्पित

की गई हो और उस चरित्र की कुछ खास विशेषताओं को उभारती हो। इसके साथ-साथ इस नाटक में चूँकि एक ही कलाकार पाँच अलग-अलग भूमिकाएँ करता है, इसलिए उसके पहनावे में कुछ बहुत स्पष्ट और प्रखर अंतर करना आवश्यक है जिससे अभिनेता को अलग चरित्र बनाने और दर्शक को उसे अलग चरित्र देखने-मानने में मदद भी मिले। राकेश अपने पात्र-परिचय में 'आधे-अधूरे' के पापों के चारित्र्य और उनकी वेशभूषा के संबंध में निर्देश देते हुए कहते हैं कि काले सूट वाला आदमी पुरुष-दो के रूप में 'पतलून और बंद गले का कोट'; पुरुष-तीन के रूप में 'पतलून-टी-शर्ट' तथा पुरुष-चार के रूप में 'पतलून के साथ पुरानी काट का लम्बा कोट' पहनेगा। यहाँ हम देखते हैं कि व्यावहारिक सुविधा को देखते हुए नाटककार ने पाँचों पुरुष पात्रों को पतलून पहनाई है जिससे कि केवल ऊपर से ही वस्त्रों को पहनने-उतारने से वेश-परिवर्तन किया जा सके। वेशभूषा संबंधी रेखाचित्र में अनुकूल और मनचाहे रंग-भरने का अधिकार रचनाकार ने निर्देशक के लिए छोड़ दिया है। महेंद्रनाथ की पतलून-कमीज़ कैसी और किस रंग-रूप की होगी - इसका निर्णय निर्देशक स्वयं करेगा। स्पष्ट है कि उस जैसी सामाजिक-आर्थिक स्थिति और स्वभाव वाले व्यक्ति के लिए हम चुस्त-दुरूस्त और चटख रंगीन वस्त्रों की कल्पना नहीं कर सकते। इसके लिए तो उसे अधमैले, पुराने और ढीले-ढाले कमीज़-पतलून में ही रखना होगा। इसके ठीक विपरीत जगमोहन की चुस्ती-फुर्ती और टिपटाप रहने की आदत को ध्यान में रखते हुए उसे भड़कीली किंतु सुरुचिपूर्ण टी-शर्ट में पेश किया जाना ज़रूरी है। सिंघानिया की सम्पन्नता, प्रदर्शन प्रियता और आत्मतुष्टि को दिखाने के लिए बंद गले के महंगे कोट (सूट) के साथ टोपी, घड़ी, छड़ी इत्यादि रखी जा सकती है तथा जुनेजा के प्रौढ़, 'संतुलित शालीन व्यक्तित्व के साथ काइयाँपन लाने के लिए उसे 'पुरानी काट का लम्बा कोट' दिया जा सकता है जिसमें बुज़ुर्गियत, गरिमा और छुपाव एक साथ आ जाएँ। इसी प्रकार सावित्री के लिए नाटककार का निर्देश है कि "ब्लाउज़ और साड़ी साधारण होते हुए भी सुरुचिपूर्ण। दूसरी साड़ी विशेष अवसर की।" इस संबंध में ध्यातव्य है कि अगर सावित्री को पहले अंक में किसी चटख रंग की कीमती साड़ी में दिखा दें, तो यह उसकी शारीरिक स्थिति, मानसिक हालत, मनोदशा और पसंद सबके विपरीत जाएगा। लेकिन दूसरे अंक में जगमोहन के साथ बाहर जाने के समय सावित्री का चटख रंग की बढ़िया साड़ी पहनता ही उपयुक्त लगेगा। इसलिए नहीं कि इस बीच उसकी सामाजिक या आर्थिक स्थिति बदल गई है, न ही इसलिए कि उसकी पसंद या चरित्र में अंतर आ गया है। ऐसा इसलिए उपयुक्त होगा कि वह सजने की खास कोशिश कर रही है, अपनी उम्र से कम लगना चाहती है, और अपने माहौल के खिलाफ़ जान-बूझकर कदम उठा रही है, या विद्रोह कर रही है। तो पहले और दूसरे अंक के बीच पहरावे का यह बदलाव बहुत अर्थपूर्ण हो जाता है और बदलते माहौल को, या सावित्री के निर्णय को, रेखांकित करता है। यही स्थिति अशोक, बिन्नी और किन्नी के वस्त्र-निरूपण को लेकर भी है। स्पष्ट है कि रंग-चेता नाटककार राकेश ने अपने कथ्य को अधिकाधिक प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त करने के लिए शिल्प की छोटी से छोटी चीज़ को भी बड़ी व्यावहारिक, पैनी और संतुलित दृष्टि से संयोजित किया है।

9.5 प्रकाश-योजना और ध्वनि-संकेत (संगीत)

प्रकाश-व्यवस्था संबंधी रंग-निर्देश केवल दोनों अंकों के आरंभ और अंत में दिए गए हैं तथा शेष पूरे नाटक के छायालोक की परिकल्पना का दायित्व निर्देशक के लिए छोड़ दिया गया है। दृश्य-बंध की चीज़ों के टूटे-फूटे और घर के बिखराव को रेखांकित करने के लिए राकेश ने प्रकाश-वृत्तों (स्पॉटलाइट्स) का इस्तेमाल किया है। इससे चरित्रों का एक दूसरे से कटाव और अकेलापन भी व्यक्त होता है। अंत में "लगभग अंधेरे में, लड़के की बाँह थामें पुरुष-एक की धुँधली आकृति" के अंदर आने की अर्थपूर्ण प्रकाश-योजना यदि नाटककार न करता तो न तो कुछ ही पलों में जुनेजा का नेपथ्य से महेंद्रनाथ बनकर लौट पाना संभव हो पाता और न ही नाटक का समग्र-प्रभाव बन रह पाता। इस तरह की व्यावहारिक समझ केवल राकेश जैसे रंगमंच से गंभीरता एवं गहराई से जुड़े नाटककार में ही दिखाई देती है। संगीत संबंधी केवल दो निर्देश राकेश ने दिए हैं। पहले अंक के अंत में "एक खंडहर की आत्मा को व्यक्त करता हल्का

संगीत" तथा संगीत के रुकने पर "कैंची की चक्-चक्-चक्" के ध्वनि-प्रभाव की योजना की गई है। इसी प्रकार दूसरे अंक के अंत में "हल्का मातमी संगीत" उभरने का उल्लेख है। राकेश ने यहाँ भी अपने पात्रों की अभिशप्त नियति के इन त्रासद क्षणों को सघन बनाने वाले संगीत की आत्मा का संकेत देकर उसे शरीर देने का काम संगीतकार के लिए छोड़ दिया है। यह संगीत-निर्देशक की इच्छा पर निर्भर करता है कि इन प्रभावों को मंच पर अनूदित करने के लिए वह किन वाद्यों या स्वरों का किस प्रकार से उपयोग करता है? यहाँ मुझे इस नाटक की 'दिशांतर' की प्रस्तुति के नेपथ्य-कर्म से प्रत्यक्षतः जुड़े हुए कल्पनाशील रंगकर्मी रामगोपाल बजाज का यहा कथन याद आता है कि "पहले अंक के अंत के लिए पात्रों के परस्पर अलगाव और उनके संबंधों के क़ट-कटकर बिखरने को अभिव्यक्त करने के लिए हमने कई दिनों तक संगीत के कई-कई प्रयोग करके देखे। परंतु अंत में पाया कि उस स्थिति में "कैंची की चक्-चक्" से बेहतर और कोई ध्वनि-प्रभाव संभव नहीं है और अंततः उसे ही रखा भी गया।" स्पष्ट है कि राकेश अपने नाट्य-शिल्प की छोटी-बड़ी प्रत्येक चीज़ के लिए कितने सतर्क, कुशल एवं निश्चित थे।

9.6 रंगमंचीयता की समस्याएँ और चुनौतियाँ

यह एक दिलचस्प तथ्य है कि 'आधे-अधूरे' समकालीन हिंदी रंगमंच का अत्यंत कठिन और चुनौतीपूर्ण किंतु साथ ही सर्वाधिक अभिमंचित और लोकप्रिय नाटक है। 'आधे-अधूरे' में यद्यपि एक ही दृश्य-बंध, समकालीन परिवेश, रूपसज्जा, वेशभूषा, चरित्रों की कम संख्या और अभिमंचन की दृष्टि से कठिन घटना-प्रसंगों के अभाव जैसी कई विशेषताएँ हैं, जो इसकी सहज अभिनेयता में सहायक है। फिर भी इसकी लम्बी 'प्रस्तावना' एक ही कलाकार द्वारा पाँच भूमिकाएँ निभाने की युक्ति, पार्श्वकर्म और तकनीक-कुशलता इत्यादि अनेक ऐसी समस्याएँ हैं, जो इसके प्रस्तुतीकरण में कठिनाई पैदा करती हैं।" आज से लगभग तीन दशक पूर्व के हिंदी रंगमंच की स्थितियों में तो यह नाटक रंगमंचीय दृष्टि से केवल चुनौतीपूर्ण ही नहीं प्रायः अरंगमंचीय भी लगता था। अनेक वरिष्ठ नाट्य-समीक्षकों एव निर्देशकों ने इस पर कई आरोप लगाए थे। यहाँ हम संक्षेप में इसकी समस्याओं और चुनौतियों की चर्चा कर रहे हैं।

प्रायः कहा जाता है कि 'आधे-अधूरे' की प्रस्तावना नाटक का अभिन्न अंग नहीं है। वह फिजूल, अनावश्यक और आरोपित है। एक विशिष्ट परिवार के सीमित अनुभव को सामान्य जन का व्यापक अनुभव-सत्य सिद्ध करने के लिए राकेश ने इसकी योजना की है। अनिश्चितता और आम आदमी के बारे में इसमें किए गए बड़े-बड़े दावे मूल नाटक से सिद्ध नहीं होते। परंतु सच तो यह है कि वैचारिक स्तर पर चाहे जो भी कहा जाए, व्यावहारिक स्तर पर वास्तविकता यह है कि इस नाटक की वे तमाम प्रस्तुतियाँ अपेक्षित समग्र प्रभाव पैदा नहीं कर सकीं, जिनमें निर्देशकों ने प्रस्तावना को हटान या काटने-छाँटने की स्वतंत्रता ली।

रंगमंचीय दृष्टि से प्रस्तावना की सबसे बड़ी समस्या यह है कि इसे साठ पंक्तियों के लम्बे एकालाप के रूप में नाटक के एकदम आरंभ में ही रखा गया है। किसी भी अभिनेता के लिए इसे प्रभावशाली ढंग से अभिनीत करना और आद्यन्त दर्शकों को बांधे रखना आसान काम नहीं है। वैसे भी, यथार्थवादी नाटक में इस अयार्थवादी प्रस्तावना की संगति बैठा पाना सरल नहीं है।

'आधे-अधूरे' पर यह भी आरोप लगाया गया कि एक ही कलाकार द्वारा पाँच भूमिकाएँ अभिनीत करने की योजना नाटक की आंतरिक आवश्यकता नहीं है और महज एक चौंकाने वाली युक्ति भर है। व्यावहारिक स्तर पर हिंदी रंगमंच के पास एक भी ऐसा सशक्त अभिनेता नहीं है, जो इस चुनौती को विश्वसनीयता और प्रभावशीलता से स्वीकार कर सके। लेकिन इस आरोप को भी इस नाटक की उन तमाम प्रस्तुतियों ने असत्य और निराधार साबित कर दिया जो दिल्ली, कलकत्ता और बम्बई जैसे महानगरों में ही नहीं देश के अनेक छोटे-छोटे शहरों और कस्बों में भी सफलतापूवर्क प्रस्तुत की गई और बहुसंख्य दर्शक-समूहों द्वारा सराही गई। फिर भी, इस

तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि अभिनय की दृष्टि से यह इस नाटक की एक कठिन समस्या है और छोटे-छोटे प्रसंग-दृश्यों के साथ लगातार वेशांतर ही नहीं चरित्रांतर भी करते चलना और स्वयं को विश्वसनीय बनाए रखना सामान्य प्रतिभा के किसी कलाकार के बूते की बात नहीं है। यही नहीं, सावित्री की भूमिका भी काफी जटिल है, ज़रा भी असावधानी उसे चरित्रहीन और कुलटा बना सकती है। संवादों में शब्दों का स्थान, लय-विधान और बलाबल इतना निश्चित और महत्वपूर्ण है कि उनमें मामूली सा परिवर्तन भी अर्थ का अनर्थ कर सकता है। इसके लिए कल्पनाशील, अनुभवी और कुशल कलाकारों के बिना काम नहीं चल सकता।

अभिनय ही नहीं इस नाटक का पार्श्वकर्म भी एक बड़ी समस्या है। इसमें चूँकि रोचक और कुतूहलपूर्ण नाटकीय घटनाओं का अभाव है तथा सम्पूर्ण नाटक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के छोटे-छोटे विस्फोटों और मनोभावों के घात-प्रतिघातों पर ही टिका है, इसलिए इसमें छायालोक की विशिष्ट भूमिका है। आरंभ, अंतराल और अंत में स्पॉट लाइट और अवमंदक (डिमर) का विशेष प्रयोग कथ्य और चरित्रों के उद्घाटन में विशेष रूप से सहायक है। इसी प्रकार "एक खंडहर की आत्मा को व्यक्त करता हल्का संगीत" जैसे संकेत भी सामान्य संगीत प्रभावों की अपेक्षा अधिक अभिव्यक्तिसक्षम सूक्ष्म संगीत की माँग करते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार की संतुलित और सुनिश्चित प्रकाश-योजना के लिए प्रवीण एवं प्रशिक्षित छायालोक-परिकल्पक और परिचालक की आवश्यकता पड़ती है। 'आधे-अधूरे' के पार्श्व-संगीत के लिए भी मौलिक उद्भावनापूर्ण एवं संवेदनशील संगीतकार अपेक्षित है। शेष पार्श्वकर्म के लिए भी जिस व्यावसायिक स्तर की तकनीकी कुशलता चाहिए, वह हिंदी प्रदेशों के अधिकाँश शौकिया नाट्य-दलों के लिए एक समस्या का रूप ही ले लेती है।

9.7 'आधे-अधूरे' की प्रमुख प्रस्तुतियाँ

हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में 'आधे-अधूरे' की जितनी प्रस्तुतियाँ अब तक हो चुकी है, उनके लिए एक बड़े और स्वतंत्र पाठ की आवश्यकता है। इसलिए यहाँ हम इसकी अत्यंत महत्वपूर्ण प्रस्तुतियों की संक्षिप्त चर्चा ही करेंगे। 2 मार्च, 1969 को केंद्रीय संगीत नाटक अकादमी के दिल्ली के मावलंकर हॉल में आयोजित पुरस्कार अर्पण समारोह में सुप्रसिद्ध अभिनेता-निर्देशक ओम शिवपुरी के निर्देशन में 'दिशांतर' द्वारा प्रस्तुत 'आधे-अधूरे' के प्रथम और शायद अब तक के सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन ने, कई सीमाओं के बावजूद, इस नाटक पर लगाए गए रंगमंचीयता संबंधी लगभग सभी आरोपों को काल्पनिक एवं गलत सिद्ध कर दिया। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से प्रशिक्षित श्रेष्ठ कलाकारों द्वारा गठित 'दिशांतर' उस समय राजधानी की महत्वपूर्ण संस्था थी। स्वयं मोहन राकेश भी इससे प्रत्यक्षतः जुडे थे। इसलिए 'आधे-अधूरे' का यह प्रदर्शन पूरी तरह नाटककार की परिकल्पना और इच्छा के अनुकूल हुआ था। ओम शिवपुरी ने पुरुष पात्रों की पाँचों भूमिकाएँ बड़ी जीवंतता एवं विश्सवनीयता से अभिनीत की थीं। सावित्री के रूप में सुधा शिवपुरी ने इस आधुनिक स्त्री चरित्र की जटिल मानसिकता और उसके अंतर्द्वंद्व को बड़े मनोयोग से उभारा था। पारिवारिक परिस्थितियों और अपने आप से असंतुष्ट, कटु, कुंठित और क्रुद्ध लड़के और छोटी लड़की की भूमिका में क्रमशः दिनेश ठाकुर तथा ऋचा व्यास (बाद के कुछ प्रदर्शनों में बनवारी तनेजा और हेमा सहाय) ने अपने प्राणवान अभिनय के बल पर दर्शकों-समीक्षकों की भरपूर प्रशंसा प्राप्त की। माँ के ही चरण-चिन्हों पर चलती दमित-कुंठित बड़ी लड़की के रूप में अनुराधा कपूर की भी भरपूर सराहना हुई। यह इन कलाकारों के श्रेष्ठ अभिनय और कुशल पार्श्वकर्म का ही कमाल था कि इस नाटक का यह प्रस्तुतीकरण आइफैक्स जैसे प्रेक्षागृह में ही नहीं त्रिवेणी जैसे मुक्ताकाशी (ओपन एअर) मंच पर अपनी प्रभावशीलता एवं लोकप्रियता बनाए रख सका।

'दिशांतर' की इस महत्वपूर्ण प्रस्तुति के ठीक बाद 21 अप्रैल, 1969 को बम्बई के तेजपाल हॉल में सत्यदेव दुबे के निर्देशन में 'थियेटर यूनिट' ने 'आधे-अधूरे' का एक अन्य बहुचर्चित प्रदर्शन किया। इसमें पुरुष की भूमिका में बम्बई रंगमंच के प्रतिष्ठित अभिनेता अमरीश पुरी के साथ

स्त्री की भूमिका में मराठी भाषी अभिनेत्री डॉ0 ललिता कामेरकर उर्फ ज्योत्सना कामेकर को लिया गया। परंतु परिवार के विघटन में स्त्री की जिम्मेदारी को लेकर नाटककार और निर्देशक की सोच के अंतर्विरोध के कारण ज्योत्सना इस चरित्र से न्याय नहीं कर सकीं। नाटककार ने जुनेजा के तर्कों के ज़ोर पर स्त्री को दोषी सिद्ध करने और महेंद्रनाथ की बेचारगी उभारकर पुरुष के प्रति सहानुभूति पैदा करने की कोशिश की है, जबकि निर्देशक सत्यदेव दुबे ने अपनी प्रस्तुति में जुनेजा की भूमिका को महेंद्र-सावित्री के निजी मामलों में हस्तक्षेप मानते हुए स्त्री के पक्ष को उसके मुकाबले प्रबल करने की कोशिश की थी। बड़ा लड़का, छोटी लड़की और लड़के रूप में क्रमशः दीपा बसरूर (अब दीपा श्रीराम लागू), भक्ति बर्वे और अमोल पालेकर जैसे आज के चर्चित फिल्म/टी.वी. कलाकारों ने निभाई। दुबे ने जब 'आधे-अधूरे' को मराठी में प्रस्तुत किया तो पुरुष की भूमिकाओं में डॉ0 श्रीराम लागू का साथ देने के लिए ये सभी कलाकार मराठी प्रस्तुति में चले गए और हिंदी प्रस्तुति के लिए इसके बाद सुनीला प्रधान (सावित्री), अनुया पालेकर (बिन्नी), सुचित्रा (किन्नी) और जयदेव हट्टगंडी (अशोक) ने काम किया। इसके प्रदर्शन चूँकि अनेक वर्षों तक होते रहे, इसलिए परिस्थितिवश अमरीश पुरी और सुनीला प्रधान को छोड़कर अन्य कलाकारों को कई बार बदलना पड़ा।

24 अप्रैल, 1970 को कलकत्ता की सुप्रसिद्ध नाट्य-संस्था 'अनामिका' द्वारा श्यामानंद जालान के निर्देशन में 'आधे-अधूरे' की वह यादगार प्रस्तुति शुरू हुई जिसने प्रदर्शनीयता के नए प्रतिमान स्थापित किए और जिससे वहाँ नियमित मंचन की रविवासरीय योजना का श्रीगणेश हुआ। पुरुष की पाँच भूमिकाओं में कृष्ण कुमार मंच पर उतरे तो स्त्री की भूमिका वरिष्ठ एवं सुप्रसिद्ध अभिनेत्री प्रतिभा अग्रवाल ने निभाई। अशोक, बिन्नी और किन्नी के रूप में क्रमशः कल्याण चैटर्जी, यामा अग्रवाल और आभा जालान के अभिनय की भी खूब सराहना हुई। परंतु सावित्री और बिन्नी के संबंधों में एक प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा दिखाने जैसी निर्देशकीय व्याख्या के कारण डॉ0 प्रतिभा अग्रवाल जैसी संस्कारी अभिनेत्री सावित्री की भूमिका में सहज नहीं हो पाई।

28 सितम्बर, 1976 को दिल्ली के राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल ने इस नाटक की एक प्रयोगधर्मी प्रस्तुति अमाल अल्लाना के निर्देशन में की। इसमें "संबंधों से मुक्ति नहीं पा सकता है मानव-मन" नामक गीत और कोरस को रख गया। इसके बहुधरातलीय एवं विस्तृत दृश्य-बंध तथा संगीत पर जापान के नाट्य-रूप काबुकी का प्रभाव था। ब्रेख्तियन शैली में, नाटक के कार्य-व्यापार को बीच में रोककर, प्रस्तावना के कुछ अंश, कुछ संवाद और कुछ मंच-निर्देश कोरस से गवाए/बुलवाए गए। स्त्री और पुरुष की मुख्य भूमिकाओं में सुरेखा सीकरी तथा मनोहर सिंह जैसे वरिष्ठ कलाकारों का साथ उतरा बावकर (बिन्नी), नोना चावला (किन्नी) तथा पंकज कपूर (अशोक) जैसे मंजे हुए प्रशिक्षित कालाकारों ने दिया। बुझी लालटेन को महेंद्रनाथ तथा चाबियों के गुच्छे को घर का प्रतीकत्व प्रदान कर निर्देशिका ने अपनी निर्देशन प्रतिभा का अच्छा प्रमाण दिया। परंतु स्वयं महिला होने के बावजूद सिंघानिया-प्रसंग में सावित्री और बिन्नी की भाव-भंगिमाओं तथा रंग-चर्चाओं से उनके चरित्र को गिराना अफसोसनाक है। इसी नाट्य-संस्था द्वारा 11 दिसंबर, 1992 को त्रिपुरारी शर्मा के निर्देशन में इस नाटक की जो नई और उद्‌भावनापूर्ण प्रस्तुति की गई उसकी शैली, व्याख्या और चरित्र-निर्माण में पर्याप्त नवीनता एवं मौलिकता थी। परिवार के सदस्यों में सारे तनाव, संघर्ष, कटुता और विघटन के बावजूद एक स्तर पर संबंधों की आत्मीयता एवं अंतरंगता के बचे रहने का चित्रण-इस प्रस्तुति की बहुत बड़ी विशेषता थी।

इनके अतिरिक्त, इसी बीच मोहन महर्षि (चण्डीगढ़), सुरेश भारद्वाज (दिल्ली), श्यामानंद जालान (कलकत्ता), सतीश आनंद (पटना), वीरेंद्र मेंहदीरत्ता (चण्डीगढ़), दिनेश ठाकुर (बम्बई) इत्यादि अनेक निर्देशकों ने देश के विभिन्न भागों में इस नाटक के चर्चित मंचन भी किए।

राजिन्दर नाथ, एम.के. रैना, सुशील चौधरी, राजेंद्र गुप्त, अलखनंदन और हरीश भाटिया जैसे कई निर्देशकों को इसकी प्रस्तावना और एक ही कलाकार द्वारा पाँच भूमिकाएँ निभाने की

युक्ति पर आपत्ति थी। अतः इन्होंने 'प्रस्तावना' को छोड़ने या काटने-छाँटने और पाँचों पुरुष भूमिकाओं के लिए अलग-अलग कलाकारों के प्रयोग किए। परंतु इनमें से कोई भी प्रदर्शन प्रभावशाली नहीं हो पाया। इसलिए, 'आधे-अधूरे' के लम्बे प्रस्तुति-इतिहास से यह स्पष्टतः सिद्ध हो गया है कि इस नाटक के रंग-शिल्प के विषय में मोहन राकेश की सोच और परिकल्पना ही अधिक सटीक, संगत और सही थी।

9.8 सारांश

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम-4 के दूसरे खंड की 'आधे-अधूरे' से संबंधित इस तीसरी इकाई और पाठ्यक्रम-4 की नौवीं इकाई में आप मोहन राकेश की इस अत्यंत प्रभावशाली नाट्य रचना के रंग-पक्ष का अध्ययन किया है।

'आधे-अधूरे' के नाट्य-शिल्प से संबंधित इस इकाई में हमने देखा कि इसमें महान घटनाओं और कार्यावस्थाओं के विकास तथा आरंभ से चरमोत्कर्ष तक निरंतर विकसित होने वाले संघर्ष का अभाव है। इसकी संरचना गोलाकार है। नाटक के आरंभ और अंत में कोई अंतर नहीं है। नाट्य-भाषा के अंतर्गत राकेश ने चरित्रों के अनुकूल बोलचाल की जीवंत एवं रचनात्मक भाषा का प्रयोग किया है और उसे प्रतिध्वनित शब्दों, ध्वन्यात्मक शब्दों, निरर्थक ध्वनियों, तुतली भाषा, और मौन के प्रयोग से तथा क्रियाओं को शब्दों के पर्याय रूप में इस्तेमाल करके रोचक एवं समृद्ध बनाया है। यही नहीं, दृश्य-बंध, संगीत और छायालोक का भी सशक्त अभिव्यक्ति माध्यम के रूप में सार्थक उपयोग यहाँ हुआ है। इसकी रंगमंचीयता संबंधी सभी समस्याओं ने चुनौती बनकर समकालीन हिंदी रंगकर्म को प्रेरित किया और उसे परिपक्व, समृद्ध और उपलब्धिपूर्ण बनाने में निर्णायक भूमिका निभाई। आशा है इस इकाई को पढ़ने के बाद आप 'आधे-अधूरे' के नाट्य शिल्प की विशेषताओं को समझ गए होंगे।

अभ्यास

1. 'आधे-अधूरे' की नाट्य संरचना की विशेषताओं का सोदाहरण उल्लेख कीजिए।
2. 'आधे-अधूरे' की रंगमंचीय प्रस्तुति में नाटक की भाषा के प्रयोग का सोदाहरण विवेचन कीजिए।
3. 'आधे-अधूरे' की रंगमंचीयता और अभिनेयता पर अपना मत प्रस्तुत कीजिए।